सत्साहित्य-प्रकाशन

कल्पवृक्ष

— प्राचीन भारतीय संस्कृति का दर्शन करानेवाले निबंध —

वासुदेवशरण अग्रवाल
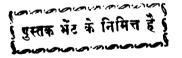
१९६०
सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल,
नई दिल्ली

दूसरी बार : १९६०
मूल्य ५० न० पै०
दो रुपये

मुद्रक
भारत मुद्रणालय
शाहदरा, दिल्ली

प्रकाशकीय

इस पुस्तक में हिन्दी के विद्वान् लेखक एवं पुरातत्त्ववेत्ता श्री वासुदेवशरण अग्रवाल के कुछ चुने हुए लेखों का संग्रह है। इन लेखों में उन्होंने प्राचीन भारतीय संस्कृति के अनेक छिपे पृष्ठों को खोला है और विविध रूपों में उस महान् संस्कृति के दर्शन पाठकों को कराये हैं। लेखक ने प्राचीन साहित्य का अध्ययन ही नहीं किया, उसमें बार-बार डुबकी लगा कर उसकी आत्मा के साथ साक्षात्कार भी किया है। यही कारण है कि वह उसका रसास्वादन इतने रोचक और सजीव ढंग से करा सके हैं।

लेखक का यह दूसरा संग्रह 'मण्डल' से प्रकाशित हो रहा है। प्रथम संग्रह 'पृथिवी-पुत्र' में उन्होंने जनपदीय लोक-जीवन के अध्ययन के लिए दिशा-निर्देश किया था और पाठकों से अपेक्षा रखी थी कि वे जनपदों में कदम-कदम पर बिखरी उस मूल्यवान् सामग्री को नष्ट होने से बचायें, जिसके आधार पर हमारा जन-जीवन अबतक टिका रहा है और आगे भी राष्ट्र के नवनिर्माण में हम जिसकी उपेक्षा, बिना अपना अलाभ किये, नहीं कर सकते।

हमें विश्वास है कि प्रस्तुत संग्रह, जो हिन्दी साहित्य के लिए अपने ढंग की एक नवीन देन है, पाठकों को अध्ययन की पर्याप्त सामग्री प्रदान करेगा और उन्हें अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रति अधिक ममत्व रखने की प्रेरणा देगा।

—मंत्री

भूमिका

इस संग्रह में भाई यशपालजी ने मेरे कुछ वैदिक और धार्मिक लेख एकत्र किये हैं, जिसके लिए मैं उनका अनुगृहीत हूं। वेद, धर्म और संस्कृति इन तीनों के पीछे जो अर्थ है, वह मेरे लिए इसलिए महत्त्व रखता है कि उससे जीवन के तत्त्वों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। ऐसा ज्ञान, जो बुद्धि का बोझ हो, जिसका जीवन से सम्बन्ध न हो, मुझे इष्ट नहीं। प्राचीन भारतीय संस्कृति और साहित्य के अमित विस्तार में मानवीय बुद्धि को स्फूर्ति देने-वाला, मन को नीति-धर्म के मार्ग में प्रवृत्त करनेवाला और विश्वव्यापी महान् चैतन्य तत्त्व के अनुभव से मानव को कल्याण-सुख के लिए प्रबुद्ध करने-वाला जो सारग्राही अंश है, उसीमें हमें श्रद्धा होती है। जीवन से विरहित होकर भूतकाल की उपासना करना केवल बुद्धि का कुतूहल है। अतीत के ज्ञान-भण्डार का जो प्राणवन्त पक्ष है, उसमें हमको रुचि होनी चाहिए।

अतीतकालीन साहित्य और संस्कृति के ऊंचे स्तूप में भूत की ठठरी के कुछ फूल रखे हुए मिलेंगे। केवल-मात्र उनमें रुचि वर्त्तमान मानव के लिए अधिक उपयोगी नहीं; किन्तु उसी स्तूप के मस्तक पर एक देवसदन प्रतिष्ठित है, जो अमर है, जो काल से जड़ीभूत नहीं हुआ। विचारों की उस देव-हर्मिका के मध्य में एक अमृत-कुम्भ रखा है। उस अमृत-घट के साथ जब हमारा मन मिल जाता है, तब हम उस घट के मुख को जीवन के नये-नये पल्लवों से लहलहाता हुआ देख सकते हैं। प्राचीन समय का प्रत्येक शास्त्र, मन्त्र, ग्रन्थ, महावाक्य किसलिए महत्त्वपूर्ण है और किस तत्त्व को पाकर वह शक्तिशाली बना है? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि उस शास्त्र या ग्रन्थ की अन्तःकुक्षि में सत्य का कोई-न-कोई बीज-मन्त्र छिपा है। विश्व-वृक्ष सत्य का ही दूसरा रूप है। उसके प्रत्येक पत्ते पर सत्य के बीजाक्षर लिखे हैं। जिस ग्रन्थ, साहित्य या वाक्य में उस सत्य की शक्ति विद्यमान है, जो उसकी व्याख्या करता है, वही मानव के लिए उपयोगी है। सत्य-वृक्ष के अनन्त पर्ण, पुष्प और फल काल-धर्म से जीर्ण नहीं होते।

भारतीय वाङ्मय के मूल में इसी प्रकार के नित्य सत्य का पूर्ण कुम्भ स्थापित है। इस मंगलघट को 'अमृत-कलश' भी कहते हैं। जो अमृत है, उसकी सृजन-शक्ति भी अमृत, अमर और अनन्त होती है।

जीवन का जो रचनात्मक पक्ष है, वह सदा नये-नये रूप में सामने आता रहेगा। 'नवो नवो भवति जायमानः' यह वैदिक सत्य जीवन के नियम की ओर ही ध्यान दिलाता है। भारत के मनीषियों ने अतीत में जिस सत्य को पहचाना था, उसका मूल अक्षय्य है। मानवीय शरीर की भांति संस्कृति का शरीर भी जड़ और चेतन के संयोग से निर्मित होता है। विविध संस्थाएं उसका जड़ीभूत अंश है। वे जन्म लेती हैं, उठती हैं और काल के अपरिमित विस्तार में रूप-परिवर्त्तन करती हुई बढ़ती जाती हैं, किन्तु उनके पीछे जो सत्यात्मक मूल प्रेरणा है, वही हमारे लिए रुचिकर है। मन पुनः-पुनः उस सत्य की संनिधि प्राप्त करना चाहता है।

वैदिक विचार अनेक रूपकों और अभिप्रायों की सहायता से प्रकट किये गए हैं। आवरण हटाकर उन अभिप्रायों को पहचानना होगा अथवा कह सकते हैं कि उन रूपकों या अभिप्रायों की जो बारहखड़ी है, उसको युक्ति से अर्थाना होगा। **'वैदिक परिभाषा में शरीर की संज्ञाएं'** इस लेख में इन अभिप्रायों का कुछ संकेत मिलेगा। **'कल्पवृक्ष'** का अभिप्राय भी भारतीय वाङ्मय में खूब पल्लवित हुआ है। मानव का मन ही कल्पवृक्ष है, इस दृष्टि से उस रूपक का अर्थ नये प्रकाश से भर जाता है। अनन्त विस्तारी काल का रूपक लोमश ऋषि की पुराणगत कल्पना है। उसीका वैदिक अभिप्राय **'कालरूपी विराट् अश्व'** लेख में मिलेगा। **'च्यवन और अश्विनी-कुमार'** लेख वैदिक प्राण-शक्ति और उसके नित्य नूतन स्वरूप की स्थिरता, रक्षा और वृद्धि की ओर लक्ष्य करता है। **'आश्रम-विषयक योगक्षेम'** लेख अनेक वैदिक परिभाषाओं का संग्रह करके उत्तरगर्भित प्रश्नों की शैली में लिखा गया है। इस साहित्यिक शैली की कल्पना सभापर्व के 'नारद राजनीति प्रश्न-कथन' की शैली से ली गई थी। ऊपर से देखने पर इसमें केवल प्रश्न-ही-प्रश्न मिलेंगे। कई मित्रों ने इस लेख के स्रोत और प्रश्नों के उत्तर की जिज्ञासा की थी। प्राचीन वैदिक साहित्य ही वह स्रोत है, जिसके मंथन से ये प्रश्न उत्पन्न हुए। प्रश्नों के उत्तर भी सूक्ष्म रूप से उन्हींके साथ मिले हैं।

. वैदिक वाङ्मय की दूसरी विशेषता यह है कि उसमें बहुधा चिन्तन, बहुधा कथन और बहुधा रूपकों का स्वागत किया जाता है। 'इदमित्थं' अर्थात् 'मूलतत्त्व इतना ही है, ऐसा ही है', यह आग्रह वहां नहीं पाया जाता। वैदिक शब्द मानो सत्य का संकेत देकर आगे बढ़ जाते हैं और फिर नये-नये संकेत लेकर हमारी ओर अग्रसर होते हैं। **'ऋषिभिर्बहुधा गीतम्'** ऋषियों ने उस तत्त्व को अनेक प्रकार से जाना और अनेक प्रकार से कहा, प्राचीन वैदिक और पौराणिक वाङ्मय की मूल भित्ति यही साहित्यिक विशेषता है। प्रकृति की प्राणधारा या सोमधारा के उस चरित को, जो विश्वरूपों में हमारे सम्मुख उद्घाटित हो रहा है, मनुष्य सदा से देखते रहे हैं और आगे भी देखते रहेंगे एवं देखते हुए अनेक प्रकार से उसकी पृथक्-पृथक् मीमांसा करते रहेंगे—

पश्यन्त्यस्याश्चरितं पृथिव्यां पृथङ्नरो बहुधा मीमांसमानाः।

(ऋग्वेद ९।१।३)

मूलतत्त्व की बहुविध कल्पना, मीमांसा और दर्शन भारतीय संस्कृति और साहित्य का व्यापक सत्य है।

'व्यास' और **'वाल्मीकि'**, ये दो लेख इस देश के दो राष्ट्रव्यापी महाकाव्यों की प्राणवन्त धारा का परिचय देते हैं, जो मानव और जीवन को केन्द्र में रखकर प्रवृत्त हुई। जीवन के बहुविध सत्य को एक शब्द द्वारा पकड़ने और कहने का जो प्रयत्न इस देश में किया गया, उसी मंथन का फल 'धर्म' शब्द की उत्पत्ति है। रामायण और महाभारत दोनों दो प्रकार से धर्म की व्याख्या करते हैं। वाल्मीकि के दर्शन में प्रत्येक पात्र सरलता से धर्म को पकड़ लेता है और विघ्नों के आने पर भी उसका पालन करने में सफल होता है। वहां धर्म अनायास रूप से चरित बन जाता है। दूसरी ओर महाभारत में बार-बार धर्म की बुद्धिगत व्याख्या की जाती है। उसके पात्र जैसे धर्म की धुरी से भागना चाहते हैं, कोई उन्हें बलपूर्वक उसके निकट लाने का प्रयत्न करता है, तब अत्यधिक संघर्ष के भीतर से ज्यों-त्यों करके यह धार्मिक संहिता पूरी होती है। एक में धर्म या सत्य के प्रति हृदय का उल्लास और आनन्द है, दूसरे में बुद्धि की कतरब्योंत और विषाद। दोनों

के पीछे वाल्मीकि और व्यास के सुदृढ़ आसन और प्रशान्त मुख-मुद्राएं स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं और यह भी विदित होता है कि अपने-अपने युग में दोनों दो प्रकार से धर्म-तत्त्व की व्याख्या करने में लगे हैं। देखा जाय तो व्यास का तथ्य हमारे वर्तमान युग की समस्याओं के अधिक निकट है। उसका एक उदाहरण उनका 'पाणिवाद' विषयक उपदेश है। किन्तु हमारे मानस का आदर्श सदा वाल्मीकि का धर्ममय चरित-योग ही रहेगा।

इन लेखों की प्रेरक अर्थ-गति से पाठकों का मन उस विशाल साहित्य के प्रति आस्थावान् बन सके और उन-उन अर्थों के परिचय के लिए रुचिवान् बन सके, तो इनका प्रयोजन सफल होगा। भारतीय साहित्य वेरूल के उस विशाल कैलास-मन्दिर के समान है, जिसे अदम्य शिल्पियों ने पर्वत में से गढ़कर तैयार किया था। उस महान् कृति के दो-चार स्तम्भों का दर्शन ही हमें यहां सुलभ होगा। उस विशाल कल्पवृक्ष के कुछ पल्लव ही यहां चिन्तन के क्षेत्र में आ सके हैं।

—वासुदेवशरण

विषय-सूची

: १ :

कल्पवृक्ष

भारतीय उपाख्यानों में कल्पवृक्ष की कथा अत्यन्त रमणीय है। कल्पवृक्ष स्वर्ग का वह सनातन महावृक्ष कहा जाता है, जिसकी छत्रछाया में हम जो कुछ चाहें वही पा सकते हैं। कल्पवृक्ष के नीचे खड़े होकर हम जिस वस्तु की अभिलाषा करते हैं, वही हमें तुरन्त प्राप्त हो जाती है। कल्पवृक्ष की वरद शक्ति अमोघ है। स्वर्ग और पृथ्वी के बीच में ऐसा कोई भी दुर्लभ पदार्थ नहीं है, जो कल्पवृक्ष के नीचे संकल्प-मात्र से हमें तत्काल न मिल जाय। मनुष्य का मन अभिलाषाओं की उर्वरा भूमि है। कभी हम धन-धान्य चाहते हैं, कभी स्वर्ण की अपरिमित राशि; कभी पृथिवी का राज्य चाहते हैं और कभी इन्द्र का ऐश्वर्य। कभी सुन्दर स्त्री की कामना हमारे मन में आती है, कभी स्वस्थ और बलिष्ठ पुत्र-पौत्रों की; कभी हम दीर्घ आयुष्य या चिरजीवन की अभिलाषा करते हैं, कभी ज्ञान और विद्या के अमित भंडार के अधिपति होने के लिए लालायित होते हैं। पृथ्वी पर सांस लेनेवाला कोई ही व्यक्ति ऐसा होगा, जो इस प्रकार की बहुमुखी कामनाओं से बचा हो। परन्तु कल्पना कीजिये कि यदि हम किसी प्रकार कुछ समय के लिए भी कल्पवृक्ष के नीचे पहुंचने का सौभाग्य प्राप्त कर सकें, तो क्या इन सब पदार्थों की प्राप्ति में एक क्षण का भी व्यवधान हो? अवश्य ही कल्पवृक्ष समस्त ऋद्धि-सिद्धियों का कोई अपूर्व आश्रय-स्थान होगा, जिसके अक्षय भंडार में पार्थिव मनुष्यों की अभिलाषा-पूर्ति के साधनों की समष्टि है।

यह कल्पवृक्ष क्या है? भारतीय उपाख्यानों की इस काव्यमयी कल्पना का क्या रहस्य है? जगतीतल के प्राणी को स्वर्गके इस अनुपम वृक्ष का परिचय कहां प्राप्त हो सकता है? यदि मर्त्यलोक का व्यक्ति स्वर्गलोक की इस वनस्पति के साथ परिचय प्राप्त कर भी ले तो उससे मनुष्य का कौनसा

कल्याण सिद्ध हो सकता है एवं मनुष्य के नित्यप्रति के जीवन को सुखमय और शान्तिमय बनाने के लिए कल्पवृक्ष का अमोघ वरदान किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है ? इन प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर समझ लेने पर हम कल्पवृक्ष के रहस्य को भली प्रकार जान सकेंगे। इसके लिए समुद्र-मंथन की कथा का रहस्य जानना आवश्यक है।

महाभारत के आदिपर्व में देवों और असुरों के द्वारा समुद्र-मंथन की कथा दी हुई है (अध्याय १७-१८)। अन्य पुराणों में भी इसीको विस्तार से पल्लवित किया गया है। परन्तु महाभारत के वर्णन की शैली उस कथा के अध्यात्म-भाव के अत्यन्त संनिकट है। देव और असुरों ने यह प्रस्ताव किया कि कलशरूपी उदधि (कलशोदधि) को मथना चाहिए, क्योंकि उसके मथने पर अमृत उत्पन्न होगा। 'सर्वौषधियों' और 'सर्वरत्नों' को प्राप्त करके हम अमृत को प्राप्त करेंगे। देवों ने कहा कि अमृत जल में से प्राप्त होगा, इसके लिए जल मथेंगे। उन्होंने समुद्र का उपस्थान किया, अर्थात् समुद्र के पास गये। समुद्र ने कहा, "मुझको भी अमृत का अंश देना स्वीकार करो तो मंदर-भ्रमण के भारी मर्दन को सह सकता हूं।" विष्णु की प्रेरणा से अनंत ने मंदर को उखाड़ लिया, तब समुद्र (अकूपार) के किनारे कूर्मराज से कहा गया, "आप इस मंदरगिरि को अपने ऊपर संभालें।" कूर्म की पीठ पर मंदर रखकर, वासुकि सर्प की नेती (मथने की रस्सी, जिसे संस्कृत में 'नेत्र-सूत्र' कहते है) बनाकर इन्द्र ने मंथन आरंभ किया। मुख की ओर असुर और पूंछ की ओर देव, अर्थात् एक सिरे पर देवों ने और दूसरे सिरे पर असुरों ने वासुकि नाग को पकड़कर मंथन आरंभ किया। संघर्ष से अग्नि निकलने लगी। उसे इन्द्र ने मेघवारि से शान्त किया।

तब घर्षण करने से महाद्रुमों का दूध और औषधियों का रस समुद्र-जल में टपक-टपककर मिलने लगा। उन अमृत-वीर्य-रसों के दुग्ध से देवों को अमृतत्व मिलने लगा। उसी जल में सुवर्ण का रस भी मिश्रित हुआ। इस प्रकार अनेक रसोत्तमों से मिश्रित समुद्र का जल दुग्ध बन गया। उस दूध से मथित होकर घृत बना। तब सबको श्रमित देखकर विष्णु ने बल दिया और प्रोत्साहित किया कि मन्दर-पर्वत के परिभ्रमण से 'कलश' को क्षुभित करो।

तब उस कलश में से 'सोम' प्रकट हुआ। तदनंतर उस घट से 'श्री' उत्पन्न हुई। फिर सुरादेवी और मन के समान वेगवान् (मनोजव) सप्तमुख उच्चैःश्रवा नामक अश्व उत्पन्न हुआ। ये चारों आदित्य-मार्ग का अनुसरण करके जहां देवगण थे, वहीं चले गये। मरीचियों से प्रकाशित दिव्यमणि कौस्तुभ नारायण विष्णु के वक्षःस्थल पर विराजमान हुई। इसके बाद श्वेत कमंडलु को धारण किये हुए भगवान धन्वन्तरि प्रकट हुए। उस कमंडलु में अमृत था। वहीं पारिजात, कल्पवृक्ष, चार श्वेत दांतों वाला ऐरावत हाथी और कालकूट विष प्रकट हुए। ब्रह्मा के कहने से शिव ने कालकूट विष कण्ठ में धारणकर नीलकण्ठ की पदवी प्राप्त की। उसी समुद्र-मंथन से कामधेनु गौ, पांचजन्य शंख, विष्णु-धनुष और रम्भादिक देवांगनाएं उत्पन्न हुई। देवों ने जय पाकर मन्दर पर्वत का यथोचित सत्कार करके उसे अपने स्थान में प्रतिष्ठित कर दिया और आनन्दित हुए।

समुद्र-मंथन का यह उपाख्यान आध्यात्मिक पक्ष में मनुष्य की दैवी और आसुरी वृत्तियों के संघर्ष का विवेचन करता है। मनुष्य का मन उसकी सर्वश्रेष्ठ निधि है, मननात्मक अंश ही मनुष्य में दैवी अंश है। शरीर का भाग पार्थिव और मन का भाग स्वर्गीय है। अथवा यों कहें कि शरीर मृत्यु और मन अमृत है। शरीर का सम्बन्ध नश्वर है, मन का कल्पान्त-स्थायी। किसी भी क्षेत्र में देखें, मन की शक्ति शरीर की अपेक्षा बहुत विशिष्ट है। ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है कि मनुष्य के भीतर जो मन है, वही प्रजापति ने अपना अलौकिक स्वरूप मनुष्य के अन्दर सन्निविष्ट कर दिया है:

अपूर्वा प्रजापतेस्तनूविशेषः तन्मनः। (ऐ० ५।२५)

पुरुष के शरीर में मन ही देवों और असुरों का संघर्ष-स्थल है। वैदिक परिभाषा में मनुष्य का शरीर घट या कलश कहा जाता है। मनुष्य का एक नाम समुद्र है:

पुरुषो वै समुद्रः। (जैमिनीय उप० ब्रा० ३।३५।५)

इसी समुद्र का मंथन जीवन में सबके लिए आवश्यक कर्तव्य है। उसीसे अनेक दिव्य रत्नों का उद्भव होता है। इस मंथन से जो अमृत या जीवन का प्राण-भाग उत्पन्न होता है, उसका अंश देवों को मिलना चाहिए। असुर

यदि जीवन-तत्त्व पर अधिकार पा लेते हैं, तो मनुष्य मृत्यु के मुख में जाने लगता है।

पूर्व और पश्चिम दोनों जगह के साहित्य में केन्द्रीय नाड़ीजाल का वर्णन एक वृक्ष के रूप में किया गया है। पश्चिमी परिभाषा में इसका नाम 'जीवन-वृक्ष' (Arbor Vitae) है। हमारे यहां यह एक वृक्ष है। नाड़ी-शाखा-प्रशाखाएं इस वृक्ष के अंग-प्रत्यंग हैं। मनुष्य का स्वास्थ्य और जीवन इस नाड़ी-संस्थान पर प्रतिष्ठित है। यह वनस्पति ही मनुष्य-जीवन के केन्द्र में स्थापित यूप है। इसीसे आयुष्य सम्बद्ध है।

इस वृक्ष की संज्ञा कल्पवृक्ष है। कल्प और कल्पना एक ही धातु से बने हैं।

कल्प दो प्रकार का होता है: एक संकल्प, दूसरा विकल्प। कल्प में 'सम्' और 'वि' उपसर्ग जोड़ने से ये दो शब्द बनते हैं। ये ही उपसर्ग समाधि और व्याधि में है। 'सम्' उपसर्ग जीवन की अन्तर्मुखी गति को बताता है और 'वि' बहिर्मुखी को। संकल्प मनुष्य को समाधि की ओर ले जाता है और विकल्प व्याधि की ओर।

सम्+कल्प=समाधि
वि+कल्प=व्याधि

मन की शक्तियों का रहस्य संकल्प या समाधि है। नाना विकल्पों से मन व्याधि की ओर जाता है, उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है।

इस प्रकार का कल्पवृक्ष प्रकृति ने प्रत्येक प्राणी के भीतर लगाया है। मनन या विचार मनुष्य का स्वभाव ही है। विचार के क्षेत्र में मनुष्य ऊंची उड़ान भर सकता है। विचार-साम्राज्य के विस्तार की इयत्ता आजतक कोई नहीं बांध सका। कवि ने इसी भाव को लक्ष्य में रखकर कहा है:

मनोरथानामगतिर्न विद्यते। (कुमारसम्भव, ५।६४)

अर्थात्, मन के रथ की गति कहीं नहीं रुकती। मनोरथों के जगत् में अप्राप्य कुछ नहीं है।

इसीलिए कहते हैं कि कल्पवृक्ष के नीचे संकल्पमात्र से जो चाहो सो प्राप्त कर लो। पर उपलब्धि की यह वास्तविकता कल्पवृक्ष के नीचे तक ही सीमित रहती है। कल्पवृक्ष की छाया से बाहर मन का राज्य समाप्त हो जाता है और मनुष्य जहां-का-तहां हो रहता है। विचार मस्तिष्क में उत्पन्न होते हैं। मस्तिष्क की संज्ञा स्वर्ग है, जहां ज्योति-लोक है। इसी कारण कल्पवृक्ष को स्वर्ग का वृक्ष कहा गया है। कल्पवृक्ष का नाम पारिजात है, क्योंकि यह जन्म लेते ही प्राणी के साथ उत्पन्न होता है। वस्तुतः जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त मनुष्य का क्या विकास है? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि मानव-जीवन मन की अन्तर्निहित शक्तियों का क्रमिक उद्घाटन है। बालक और युवा में जो अन्तर है, वह मन की अवस्था का भेद है। संसार के उत्कृष्ट मस्तिष्क वाले संकल्पवान् प्राणी में और एक साधारण मनुष्य में भी जो भेद है, वह मन की शक्तियों के भेद के कारण है। मन ही मनुष्य का दूसरे मनुष्य से भेदक है। जो मनुष्य अपने भीतर संकल्पवान् मन का भरण करते हैं, वे ही राष्ट्र की निधि हैं। नाना प्रकार के दुर्बल विकल्पों से प्रताड़ित अस्थिरचित्त व्यक्तियों का समाज के लिए क्या मूल्य हो सकता है? अनेक आचार्यों द्वारा विद्यालयों में शिक्षा के आयोजन इसीलिए हैं कि सच्चे अर्थों में संकल्पवान्, मनःशक्ति से धनी, मनुष्यों का निर्माण किया जाय।

कल्पवृक्ष स्वर्गीय या दिव्य वनस्पति है। यजुर्वेद में मन का विशेषण 'दैव' कहा गया है। प्रश्न यह है कि इस स्वर्गीय वनस्पति का परिचय प्राप्त करके हम अपना क्या कल्याण कर सकते हैं? कल्पवृक्ष, जैसा-कि नाम से प्रकट है, कल्पनाप्रधान है। कल्पना या संकल्प दो प्रकार का होता है: एक शिव, दूसरा अशिव। शिवसंकल्प ही मानव-कल्याण के हेतु हो सकते हैं। पौराणिक उपाख्यानों में भी प्रसिद्ध है कि यदि हम कल्पवृक्ष के नीचे अमृत की कामना करें तो वह प्राप्त हो सकता है। पर यदि भय या दुर्बल संकल्प या मानसिक विकल्प के कारण मृत्यु की बात हमारे मन में आ गई, तो वह भी तत्काल ही प्राप्त होती है। इसलिए कल्पवृक्ष के जगत् में मनुष्य का कल्याण केवल शिवसंकल्पों से ही सिद्ध हो सकता है।

: २ :

मन की अपूर्व शक्ति

इस शरीर में शक्ति का मुख्य स्थान केन्द्रीय नाड़ी-जाल है। इसके दो भाग हैं : एक मस्तिष्क और दूसरा मेरुदण्ड-सम्बन्धी नाड़ी-संस्थान; जिसे भारतीय परिभाषा में 'सुषुम्णा' कहा गया है। वैदिक परिभाषा में मस्तिष्क या शिर के अनेक नाम हैं।

वैदिक मनःशास्त्र के पंडितों ने उन अनेक संज्ञाओं के द्वारा मन की अपरिमित शक्तियों को ही प्रकट किया है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार शिर ही समस्त प्राणों का उद्भव-स्थान है :

शिरो वै प्राणानां योनिः। (शत० ७।५।१।२२)

पंच प्राण ही पंचेन्द्रियों का संचालन करते हैं। इनका नियंत्रण शिर से ही होता है। 'शतपथ ब्राह्मण' में अन्यत्र निरुक्तशास्त्र की दृष्टि से कहा है:

यच्छ्रियं समुदौहंस्तस्माच्छिरः तस्मिन्नेतस्मिन्प्राणा आश्रयन्त, तस्माद् उ एव एतत् शिरः। (शत० ६।१।१।४)

अर्थात्, देवों ने श्री का दोहन किया। श्री-दोहन के कारण ही शिर को यह नाम मिला। उस शिर में प्राण ने आश्रय लिया। आश्रयस्थान होने के कारण ही वह शिर कहलाया। यहां ऋषि देखता है कि श्री, आश्रय और शिर, इन तीनों में एक ही धातु 'श्रिञ् श्रयणे' के भिन्न-भिन्न रूप हैं।

तात्पर्य यह है कि शिर या मस्तिष्क ही प्राणों का प्रभव-स्थान है।

शिर की दूसरी संज्ञा 'चमस' है। उपनिषद् और वेद-मंत्रों में एक चमस का वर्णन आता है, जिसका मुंह नीचे को (अर्वाग् बिलः) और पेंदी ऊपर को (ऊर्ध्वबुध्नः) है। शतपथादि ब्राह्मणों के अनुसार यह शिर का ही वर्णन है:

अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः। इदं तच्छिरः। (शत० १४।५।२।५)

यदि हम ध्यानपूर्वक अपने शरीर का निरीक्षण करें, तो हमें जान पड़ेगा कि मेरुदण्ड के ऊपरी भाग पर शिररूपी कटोरा औंधा ढका हुआ है। मेरु-दण्ड का ऊपरी छोर सुमेरु और नीचे का कुमेरु कहलाता है। सुमेरु और

कुमेरु के बीच अहर्निश एक विद्युत् की तरंग या प्राणधारा प्रवाहित होती रहती है। इसका स्वास्थ्य ही हमारे आयुष्य का हेतु है।

शिर की तीसरी संज्ञा कलश या द्रोण है। सोमयाग के द्वारा इसी कलश में सोमरस भरा जाता है। इस द्रोण कलश में जो सोम होता है, उसमें से छोटे-छोटे पात्रों में भरकर वह रस पिया जाता है। हमारे शरीर में भी रात-दिन यह क्रिया चलती रहती है। मस्तिष्क में भरा हुआ रस (सेरीब्रो—स्पानल फ्लुइड) ही सोम है। यह रस मस्तिष्क और मेरुदण्ड के समस्त नाड़ी-संस्थान को सींचता रहता है। यह मस्तिष्क की वापियों (वेंट्रिकल) में उत्पन्न होता, और मस्तिष्क और सुषुम्णा की सूक्ष्मतम नाड़ियों का पोषण और परिमार्जन करता हुआ उसमें सर्वत्र ओतप्रोत रहता है। शरीर-यज्ञ से सम्बन्ध रखनेवाली परिभाषाओं में सोमरस ही मस्तिष्क और सुषुम्णा में व्याप्त रस है।

ऋग्वेद में सोम को इन्द्र का रस या इन्द्रिय-सम्बन्धी रस कहा गया है :

सोम इन्द्रियो रसः। (ऋ० ८।३।२०)

यह सोम सबके मस्तिष्क में शान्ति और अमृत देनेवाला चन्द्र है। यही शिव के मस्तक पर रहता है। समुद्र-मंथन की कथा में भी सोम उत्पन्न हुआ और आदित्य-मार्ग से देवों के पास गया।

मस्तिष्क की ही एक संज्ञा स्वर्ग है। अथर्ववेद के एक मंत्र में कहा है :

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
अस्यां हिरण्ययो कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥ (अथर्व० १०।२।३१)

अर्थात्—आठ चक्र और नव (इन्द्रिय) द्वारोंवाला यह शरीर देवों की पुरी अयोध्या है। इसमें एक हिरण्य का कोश है, जो ज्योति से ढका हुआ स्वर्ग है। यह मस्तिष्क ही स्वर्ग है, जो ज्योति का लोक है और देवों का स्थान है। हिरण का एक पर्याय प्राण वीर्य या सोम है। मस्तिष्क इन सब तत्त्वों का वास्तविक कोश है। वीर्य या रेत से मस्तिष्क का साक्षात् घनिष्ठ संबन्ध है। मस्तिष्क संकल्पों का स्थान है। कामदेव को संकल्प-योनि कहा जाता है।

काम की सर्वप्रथम चेतना मन में ही स्फुरित होती है। अतएव उसकी 'मनोज' या 'मनसिज' संज्ञाएं अन्वर्थ ही हैं। मन को निर्विकार रखने से काम जीता जाता है। मन को वश में करने की शास्त्र-विधि का नाम 'योग' है। शिव सर्वप्रथम योगी है। अतएव वह ही मदन का दहन करने में सफल हुए।

हमारे शास्त्रों के अनुसार विचार या मनन ज्योति का लक्षण है। विचार ज्योति की किरण के समान है, जो अंधकार को चीरती हुई फैलती है। इसलिए बुद्धि को सूर्य और विचारों को ज्योति कहा गया है। विचारों का लोक मस्तिष्क है, वह ज्योति से आवृत स्वर्ग कहा गया है। प्रकृति ने शरीर की ऐसी रचना की है कि उसमें मस्तिष्क ही विचार कर सकता है। मस्तिष्क या शिर से नीचे शरीर का जो भाग है, उसमें संकल्प-विकल्प की शक्ति नहीं है। अतएव आर्ष-परिभाषा में शिर को ज्योति-लोक या देवलोक और शेष शरीर को तमोलोक या असुरलोक कहते हैं। मनुष्य में ज्योति और तम, देव और असुर—दोनों का एक साथ निवास है।

हम अपने विवेक से ज्योति को तम से अलग पहचान लेते हैं, यही ज्योति या देवों की विजय है।

सुषुम्णा के भाग का नाम पृथिवी-लोक और मस्तिष्क का नाम स्वर्ग है। इन दोनों का जो सम्मिलन है, अर्थात् जहां सुषुम्णा सिर में प्रवेश करती है, उस स्थान को अन्तरिक्ष (बीच का लोक)कहा जाता है। हमारा समस्त इन्द्रिय-व्यापार चेतना के इन्हीं तीन स्थानों के पारस्परिक सहयोग से सम्भव होता है।

समुद्र-मंथन से जो रत्न उत्पन्न हुए, उनका सम्बन्ध भी अध्यात्म-पक्ष में मनुष्य के शरीर के आन्तरिक तत्त्वों से ही है। सोम या चन्द्र मस्तिष्कगत सोमरस है, जो अमृत का स्रवण करता रहता है। आयु, प्राण, चेतना, ज्योति, देवत्व, शान्ति आदि सात्त्विक तत्त्वों की संज्ञा ही अमृत है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में इन परिभाषाओं को स्पष्ट स्वीकार करके अमृत के अभिप्राय को बताया गया है।

मनुष्य में प्राण-शक्ति का उद्रेक ही अमृत है। यह प्राण रेत की शुद्धता पर निर्भर है। रेत या वीर्य जल-तत्त्व पर आश्रित है। ऐतरेय उपनिषद् में स्पष्ट कहा है कि जलों ने रेत बनकर इस शरीर में निवास किया।

आप: रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ।

इसीलिए समुद्र-मंथन में पुरुषरूपी समुद्र के जल-तत्त्वों का मंथन किया जाता है । रेत की शुद्धि ही प्राण और आयु की चरम प्रतिष्ठा है ।

रेत एक प्रकार की शक्ति है । उसके दो स्वरूप हैं : एक दैवी, दूसरा आसुरी । जल के भी दो भाग प्राचीन निरुक्तों में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं : एक अमृत, दूसरा विष । जल ही अमृत और जल ही विष है । जल से उत्पन्न सात्त्विक शक्ति अमृत है । उसीका तामसी रूप विष हो जाता है । देवता और असुर दोनों अमृत चाहते है । पर दैवी विधान यही है कि केवल देव ही अमृत पी सकते हैं, असुर नहीं । परन्तु इससे पूर्व कि देवों को अमृत मिल सके, यह आवश्यक है कि कोई विष या कालकूट को अपने शरीर में पचा ले । शिव योगिराट् हैं, वह ही विष अर्थात रेत तत्त्व की तामसी वृत्तियों का दमन कर सकते हैं ।

वेद की प्राचीनतम परिभाषाओं में इनके नामान्तर सोम और सुरा हैं । रेत की सात्त्विक शक्ति सोम है, तामसी मादक या उच्छृङ्खल शक्ति सुरा है :

प्रजापतेर्वा एते अन्धसी यत्सोमश्च सुरा च ।
ततः सत्यं श्रीर्ज्योतिः सोमः ।
अनृतं पाप्मा तमः सुरा ।। (श० ५।१।२।१०)

अर्थात—प्रजापति के दो अन्न हैं : एक सोम, दूसरी सुरा । सत्य, श्री और ज्योति का नाम सोम है; अनृत, पाप और तम का नाम सुरा है ।

अपने शरीर में ही हम देखते हैं, सोम और सुरा दोनों विद्यमान हैं । अन्न जब पेट में पहुंचता है, उसका अभिषव होकर जो शरीरिक शक्ति बनती है, वह सुरा है । प्राकृतिक सुरा भी अभिषव से ही बनती है । उसी अभिषुत रस के अधिक सूक्ष्म होने से जो सूक्ष्म मनःशक्ति उत्पन्न होती है, वह सोम है । सोम ही चन्द्रमा है, इसलिए चन्द्रमा को मन से उत्पन्न कहा जाता है :

चन्द्रमा मनसो जातः ।

अथवा यजुर्वेद में यह प्रश्न किया है कि कौन बार-बार घटता-बढ़ता रहता है ? और उत्तर में कहा है कि यह चन्द्रमा है जो बार-बार उत्पन्न होता है ।

(यजु २३।४५-४६), वहां भी अध्यात्म पक्ष में चन्द्रमा का अर्थ मन है, जो संकल्प-विकल्पों के द्वारा बराबर वृद्धि-क्षय को प्राप्त होता रहता है। अमृत-विष एवं सोम-सुरा के द्वन्द्व मन की शक्तियों को लक्ष्य करके कहे गये हैं, अध्यात्म-पक्ष में इनका अर्थ स्पष्ट हो जाता है, मन के समान वेगवान सात मुखवाला अश्व देवों का वाहन है। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट कहा है कि मन ही देवों का वाहन अश्व है। इसीपर आरूढ़ होकर देव विचरण करते है :

मनो वै देववाहनं। मनो हीदं मनस्विनं भूयिष्ठं वनीवाह्यते।
(शतपथ १।४।३।६)[1]

इन्द्र का प्राचीन विशेषण वृद्धश्रवा है। उनका यह अश्व पुराणों में उच्चैःश्रवा कहा गया है।

प्रश्न यह है कि अश्व के सात मुख कौन-से हैं ? सप्तशीर्षण्य प्राण ही मन-रूपी अश्व के सात मुख हैं : दो आंख, दो नाक, दो कान और जिह्वा—ये सात ऋषि हैं, जिनसे प्राणिमात्र काम लेते हैं। सप्तशीर्षण्य प्राण और सप्तर्षि यह परिभाषा वेद में सामान्य रूप से बार-बार आती है और बृहदारण्यक उपनिषद् (२।२।४) में इनको स्पष्ट किया है।

प्राणों का अधिपति मन है। अतएव सप्तमुखी मन ही देवों का अश्व-वाहन है। मन की सप्तमुखी इन्द्रिय वृत्तियों पर अधिकार प्राप्त कर लेने से अथवा इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बनाने से ही देव अपने अश्ववाहन के द्वारा नियत और अभिलषित स्थान पर पहुंच सकते हैं।

कठ-उपनिषद् में तथा अन्य भारतीय ग्रंथों में इन्द्रियों की उपमा अश्व से दी गई है। शरीररूपी देवरथ में इन्द्रियों के सदश्वों को जोड़कर जो बुद्धिरूप सारथि की शक्ति से सफल जीवन-यात्रा कर सकता है, वही विजयशील महारथी है, अन्यथा हममें से हरएक परास्त वृत्त होकर कहीं-न-कहीं

---

[1] **ऋग्वेद में भी देव-वाहन अश्व का वर्णन है—**
वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः
तं हविष्मन्त ईडते (ऋ० ३।२७।१४)

अपनी-अपनी यात्रा में भटकता रहता है। हमारे जीवन के लिए मनोजव उच्चैःश्रवा का महत्त्व सर्वतोऽधिक है।

मनुष्य में दृढ़ संकल्प-शक्ति ही दिव्य कौस्तुभ-मणि है, जो हृदय का अलंकार है। जिस हृदय में कौस्तुभ नहीं वह श्री-विहीन है। संकल्प की वीर्यवती शक्ति ही मनुष्य को देव बनाती है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन चारों की समन्वित शक्ति चार दांतोंवाला दिव्य ऐरावत इंद्र का वाहन है। इन्द्र आत्मा की प्राचीन संज्ञा है। उसीके सम्पर्क से हमारी इन्द्रियां अपने कार्यों में प्रवृत्त रहती है। इन्द्र की शक्ति ही इन्द्रिय रूपी देवों के रूप में प्रकट हो रही है। शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि इन्द्र ही सबके भीतर बैठा हुआ मध्य प्राण है, जो इतर इन्द्रिय प्राणों को समिद्ध करता रहता है (श० ६। १।२ २)[१]। वह इन्द्र-शक्ति संकल्प-शक्ति के रूप में प्रकट होती है। संकल्पशक्तिरूप कौस्तुभमणि विष्णु का सर्वोत्तम अलंकार है, जिसका स्वरूप मानुषी नहीं, दैवी है। पुरुष ही विष्णु और पुरुष ही यज्ञ है। पांच-जन्य शंख और विष्णु का धनुष भी मन और प्राणों के व्यापार से ही सम्बन्ध रखते है। इन्द्रियों की एक संज्ञा पंचजन है। इन पंचजनों का संवादी स्वर पांचजन्य शंख की ध्वनि है। इन्द्रियों की उच्छृङ्खलता उनकी विसंवादिता है। समस्त इन्द्रियों का मन के साथ संज्ञान सूत्र में बद्ध रहना ही पांचजन्य शंख का दिव्य मधुर घोष है। वशीभूत इन्द्रियां कामधेनु गौएं है (**गावः कामदुघः**), जो अमृत के समान स्वादिष्ट दुग्ध देती हैं। यथाकाम दुग्ध प्राप्त करने के लिए इन्द्रियों को वश में करना आवश्यक है।

दैवी वृत्तिवाला मनुष्य दिलीप के समान कामधेनु की गो-सेवा करके उसका दुग्ध पीना चाहता है। वही यज्ञिय भोग है, असंयत व्यक्ति इन्द्रियों को निचोड़कर उनका रक्त पी लेना चाहता है। कविवर नान्हालाल के शब्दों में 'भाव के भूखे देव होते हैं, रक्त के प्यासे असुर'। यही वश्य और अवश्य इन्द्रियों का अन्तर है। रम्भादि देवांगनाएं भी पुरुषरूपी समुद्र के अभ्यन्तर

---

[१] **स योऽयं मध्येप्राणः। एष एव इन्द्रः। तानेष प्राणान् मध्यत इन्द्रियेणैन्द्ध। यदैन्द्ध तस्मादिन्धः। इन्धो ह वै तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षम्।**

में ही उपस्थित हैं। यास्क के अनुसार रम्भ मेरुदंड की संज्ञा है :

रम्भः पिनाकमिति दण्डस्य। (नि० ३।२१)

पिनाक क्या है और मेरुदंड को क्यों शिव का धनुष कहा गया है ? मेरु एक पर्वत है। जिसमें पर्व हों, वही पर्वत कहलाता है। मेरुदंड में तैंतीस पर्व या पोरियां हैं। इस पर्वत की शक्ति पार्वती या पर्वतराज-पुत्री कही गई है। रम्भा भी पिनाक या मेरुदण्ड की ही संज्ञा है। रम्भ की शक्ति रम्भा हुई। रम्भ की कल्पना एक अप्सरा के रूप में है। पार्वती योगीश्वर शिव को तप के द्वारा प्राप्त करती हैं। परन्तु रम्भा अप्सरा देवों का स्वच्छन्द वरण करती है (**अद्भ्यः सरन्तीति अप्सरसः**)। जलों से उत्पन्न होने के कारण वे अप्सरा कहलाती हैं। जल का शरीरवर्ती रूप रेत है। उसीकी अनेक कामनाएं या वृत्तियां अप्सराएं हैं। रम्भा मेरुदण्ड की प्रमुख अप्सरा है। वह मेरु पर रहनेवाले देव-गण का वरण करती है। दिव्य अध्यात्म भावों को प्रकट करने के लिए ही पुराणकारों ने इन रमणीय कल्पनाओं या परिभाषाओं की सृष्टि की है। ये परिभाषाएं ही भारतीय उपाख्यानों की वर्णमाला हैं। इनकी अनेक-विध बारहखड़ी के द्वारा ही एतद्देशीय लेखक विलक्षण उपाख्यानों की सृष्टि करने में सफल हो सके। मन्दर, वासुकि, और कूर्म, ये भी उसी कल्पना के अंग हैं। मेरुदण्ड का ही एक भाग मंदराचल है, वासुकि कुण्डलिनी है। प्राण ही वह कूर्म है, जो मन्थन के समय पर्वत का अधिष्ठान बनता है। रेत और शिर को भी कूर्म कहते है। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है :—

रेतो वै कूर्मः (श० ७।५।१।१)

शिरः कूर्मः। (श० ७।५।१।३५)

प्राणो वै कूर्मः प्राणो हीमाः सर्वाः प्रजाः करोति। (श० ७।५।१।७)

जबतक हम युधिष्ठिर के समान इस अदृश्य यक्ष की शंकाओं का समाधान न कर लें, तबतक सांसारिक तृष्णाओं को तृप्ति नहीं कर सकते। इन्हीं मन्त्रों में मन की सारथि से उपमा देकर शरीररूपी रथ में जुते हुए इन्द्रियरूपी घोड़ों के उस साहित्यिक रूपक का सूत्रपात किया गया, जिसका मनोहर वर्णन कई स्थानों में हमारे साहित्य में आया है।

महाभारत अश्वमेध पर्व (अ० ५१) में ब्रह्मरथरूपी शरीर का वर्णन करते हुए लिखा है :

> महदश्वसमायुक्तं बुद्धिसंयमनं रथम् ।
> समारुह्य स भूतात्मा समन्तात्परिधावति ।।
> इन्द्रियग्रामसंयुक्तो मनः सारथिरेव च ।
> बुद्धिसंयमनो नित्यं महान् ब्रह्ममयो रथः ।।
> एवं यो वेत्ति विद्वान्वै सदा ब्रह्ममयं रथम् ।
> स धीरः सर्वभूतेषु न मोहमधिगच्छति ।।

प्राचीनकाल के मनीषि शिक्षा-शास्त्रियों ने मन की इस अपूर्व शक्ति के रहस्य को जान लिया था। जब हम **'तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु'** सूक्त को पढ़कर देखते हैं और उसके अर्थों पर विचार करते हैं तब हमें आश्चर्य होता है कि मन की जाग्रत और सुषुप्त सभी प्रकार की शक्तियों को पहचानने में भारत के प्राचीन मनोवैज्ञानिकों को कितनी अधिक सफलता मिल चुकी थी। आइये, मनःसूक्त के रचयिता शिव-संकल्प ऋषि के विचारों को ध्यानपूर्वक सुनें :

१. दैवी शक्ति से सम्पन्न जो मन जाग्रत अवस्था में दूर तक जाता है, जो सोते समय भी उसी तरह जाता है, वह ज्योतियों की ज्योति दूरंगम मेरा मन शिव-संकल्पों से युक्त हो।

२. जिसके द्वारा मनीषी जन यज्ञिय विधानों में कर्म करते हैं, सब प्रजाओं के भीतर जो अपूर्व शक्ति है, वही मेरा मन शिव-संकल्पों से युक्त हो।

३. प्रज्ञान, चेतना और धृति जिसके रूप हैं, प्रजाओं के भीतर जो अमृत ज्योति है, वही मेरा मन शिव-संकल्पों से युक्त हो।

४. जिस अमृतज्योति के भीतर भूत, भविष्य और वर्तमान सब परिगृहीत रहता है, जिसके द्वारा **'सप्तहोता'** यज्ञ का विधान होता है, वही मेरा मन शिव-संकल्पों से युक्त हो।

५. ऋक्, साम और यजु जिसमें इस तरह पिरोये हुए हैं जैसे रथ के पहिये की पुट्ठी में अरे लगे रहते हैं, जिसमें प्रजाओं के समस्त संकल्प ओत-प्रोत हैं, वही मेरा मन शिव-संकल्पों से युक्त हो ।

६. उत्तम सारथि जैसे लगाम के द्वारा घोड़ों को नियन्त्रित करता है ऐसे ही जो मनुष्यों को बारम्बार ले जाता रहता है, जो हृदय अर्थात हमारे व्यक्तित्व केन्द्र-बिन्दु पर प्रतिष्ठित है, जो अजर और वेगशील है, वही मेरा मन शिव-संकल्पों से युक्त हो। (यजु० ३४।१।६)

क्या विश्व के साहित्य में ऐसे शब्द अन्यत्र मिल सकते हैं, जो मन की महिमा का वर्णन करने में इनसे अधिक उदात्त और इनसे अधिक ओजस्वी हों ?

अबतक मन की स्तुति में अन्यत्र जो कुछ कहा गया है, उस सबको फीका कर देनेवाले हमारे ये उषःकालीन वाक्य हैं। अवश्य ही इस मनःसूक्त के रचयिता ऋषि ने, जिसका नाम भी संयोग से शिव-संकल्प कहा जाता है, अपने आध्यात्मिक अनुभव की ऊंचाई से मन की प्रशंसा में उससे कहीं अधिक कह डाला है, जितना हम भविष्य में कभी कह पायंगे। मन के लिए ये विशेषण कितने सार्थक हैं जैसे **ज्योतिषां ज्योति,**[१] **अपूर्व यक्ष,**[२] दैव, दूरंगम, अमृतज्योति, प्रज्ञान, चेतना, धृति, अजर, जविष्ठ आदि। मनरूपी अपूर्व यक्ष (**यज्ञिय यजनीय ज्योति**) हम सबके भीतर बैठा हुआ है।

यजुर्वेदीय शिवसंकल्प के मन्त्रों को एक उपनिषद् समझा जाता है। उसमें सबसे महत्त्व की बात मन को शिवात्मक संकल्पों से युक्त करने का भाव ही है।

अर्वाचीन मनोविज्ञानशास्त्र के अनुसार मनुष्य का अन्तर्मन बाह्यमन की अपेक्षा सहस्रों गुना अधिक शक्तिशाली है। उसके यथार्थ स्वरूप, रहस्य और शक्तियों का अभीतक हमें पर्याप्त ज्ञान नहीं है। उसी अन्तर्मन को शिव-संकल्पों की प्रेरणा से मनुष्य के लिए अत्यधिक कल्याणकारी बनाया जा सकता है। पश्चिमी विद्वान फ्रॉयड के अन्वेषण अन्तर्मन से ही सम्बन्ध रखते हैं। उस अन्तर्मन पर प्रभाव डालकर उसकी अन्तर्निहित शक्ति को

---

[१] The Illuminator of all the perceptive senses.
[२] Peerless Spirit.

परिष्कृत और स्फुट करना, यह भी आधुनिक मनोविज्ञान का सुपरिचित सिद्धान्त है।

दीर्घ आयु, अमृत जीवन, स्वास्थ्य, ऊर्जित प्राण-शक्ति, निर्विकार इन्द्रिय-धारणा, निश्चल धृति, मन:शान्ति—ये सब उपयोगी भाव मानसिक संकल्पों से प्राप्त किये जा सकते हैं। इस प्रकार के शिव-संकल्पों को अंग्रेज़ी में ऑटो-सजेशन कहा जाता है। वस्तुत: मनुष्य अपने ही संकल्पों से रात-दिन भरा रहता है। ऐसी दशा में उसका कल्याण इसीमें है कि वह अपने संकल्पों को शिव और सत्य बनाये। सत्य संकल्प ही दृढ़ होते हैं। पूर्णतया मनुष्य की जो भारतीय कल्पना है, उसमें उसे सत्यकाम और सत्य-संकल्प होना चाहिए। जीवन की सफलता या पूर्णता की यही कसौटी है कि हम किस मात्रा में अपने-आपको सत्यकाम बना सके और जीवन में कितने सत्य संकल्पों का लाभ हमें प्राप्त हुआ। संकल्प की एक वैदिक संज्ञा ऋतु है। मनुष्य ऋतुमय प्राणी है। ऋतु का सम्बन्ध कर्म से है। कर्म के द्वारा ऋतु या संकल्प की पूर्ति होती है। एक ओर ऋतु दूसरी ओर कर्म। इन्हीं दोनों के बीच में मनुष्य-जीवन है! इसी दृष्टि से जीवन की अंतिम प्रार्थना मनुष्य के लिए यह है:—

ओ३म् क्रतो स्मर, कृतं स्मर
क्रतो स्मर, कृतं स्मर।

अर्थात—संकल्प का स्मरण करो। फिर कर्म का स्मरण करो। कितना सोचा था, कितना कर पाया। कविवर ब्राउनिंग ने संकल्प और कर्म के इसी सम्बन्ध को व्यक्त करते हुए कहा है कि किस जीवन में संकल्प और कर्म का मेल पूरा उतरा।

अर्वाचीन मन:शास्त्री इस प्रकार के शिवसंकल्पों को मानसिक चिकित्सा का अनिवार्य अंग मानते हैं। हमारे साहित्य में शिव-संकल्पों के सैकड़ों-सहस्रों वाक्य हैं, जिनके उचित 'आत्म-निवेदन' या 'आत्म-शंसन' से हम शारीरिक और मानसिक सभी प्रकार का स्वास्थ्य प्राप्त कर सकते हैं।

मन में कुत्सित संकल्प का नाम है 'अघशंस', जो मन की व्याधि है। उत्तम संकल्पों को वैदिक परिभाषा में 'सुशंस' कहते हैं। शिव-संकल्पात्मक

वचनों का सुन्दर शंसन ही मानसिक स्वास्थ्य के लिए अभीष्ट है। सुशंस का फल अन्तर्मन का स्वास्थ्य या सौ स्वप्न्य है, अघशंस का फल 'दौःस्वप्न्य' है। दौःस्वप्न्य का भेषज शिवसंकल्पों के शंसन से प्राप्त होता है। इसीलिए संध्या या अहोरात्र की ध्यान-विधि में विविध शिव-संकल्पात्मक वचनों का सन्निवेश किया गया है।

यद्यपि वैदिक साहित्य में सहस्रों प्रकार के शिवसंकल्प दिये हुए हैं, तथापि यहां उदाहरण के लिए कुछ ही वाक्यों का संकलन करके इस विषय का दिग्दर्शन किया जाता है :—

ओ३म् वाङ्‌ म आस्येऽस्तु
नसोर्मे प्राणोऽस्तु
अक्षणोर्मे चक्षुरस्तु
कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु
बाह्वोर्मे बलमस्तु
ऊर्वोर्मे ओजोस्तु
अरिष्टानि मेऽङ्गानि
तनूस्तन्वा सह मे सन्तु।

वाङ्‌ म आसन्, नसोः प्राणः, चक्षुरक्ष्णोः, श्रोत्रं कर्णयोः अपलिताः केशाः, अशोणा दन्ताः, बहु बाह्वोर्बलम्, ऊर्वोरोजो, जंघयोर्जवः, पादयोः प्रतिष्ठा, अरिष्टानि मे सर्वात्मा निभृष्टः॥ (अथर्व० १९-६०)

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि।
आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि।
वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि।
अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण।
अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि
तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि॥

यह व्रत-ग्रहण का संकल्प है। व्रत के द्वारा हम अनृत भाव को छोड़कर सत्य भाव का आश्रय लेते हैं। इसी प्रकार मेधा, श्रद्धा, अभय, आयु, अमृत,

प्राण, प्रजा, यश आदि से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक शिवसंकल्पात्मक वाक्य हैं। कहीं कहा है **'यशो मा प्रतिपद्यताम्'**, कहीं **'अभयं कुरु'** का संकल्प है, कहीं **'एवा मे प्राण मा बिभेः'** (हे मेरे प्राण, मत डरो) का गान है। एक जगह प्राण और अपान के द्वारा मृत्यु से रक्षा पाने का संकल्प है :—

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा। (अथर्व० १।२६।१)

अन्यत्र शतायु होकर स्वस्थ जीवन की कामना है :—

पश्येम शरदः शतम्
जीवेम शरदः शतम्
शृणुयाम शरदः शतम्
प्रब्रवाम शरदः शतम्
अदीनाः स्याम शरदः शतम्
भूयश्च शरदः शतात्।

इसी प्रकार के उदात्त भावों की कुछ सूक्तियां निम्नलिखित हैं :

अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद्धनं
न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन। (ऋ० १०।४८।५)

(मैं इन्द्र हूं, मेरा धन कौन जीत सकता है, मैं कभी मृत्यु के लिए नहीं बना।)

शतं जीव शरदो वर्धमानः।
स्वे क्षेत्रे अनमीवा विराज। (अथर्व० २०।६६।६)

(अपने क्षेत्र या शरीर में अनामय होकर विराजो।)

यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्वी अन्नादः भूयासम्।

शिवसंकल्पात्मक मन्त्रों का सबसे अधिक संग्रह अथर्ववेद में है। वहां शिवसंकल्पों के द्वारा मानसिक चिकित्सा को शास्त्रीय रूप ही दे दिया गया है। मन की अन्तर्निहित शक्तियों के परिचय से मनुष्य के कल्याण का साक्षात्सम्बन्ध है। ऊपर के विवेचन की दृष्टि से कल्पवृक्ष की आराधना जीवन की सफलता के लिए एक अनिवार्य साधना है। चाहे जीवन के किसी भी प्रदेश में हम हों, शिवसंकल्पों के द्वारा ही हम अपने रोगी मन का संस्कार करके पुनः संकल्प, जीवन और आयु का आवाहन कर सकते हैं :

आ न एतु मन: पुन: क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥

फिर हमारा मन हमें प्राप्त हो, क्रतु, दक्ष और जीवन के लिए, अधिक दिन तक सूर्य को देखने के लिए ।

: ३ :

संस्कृति का स्वरूप

संस्कृति की प्रवृत्ति महाफल देनेवाली होती है । सांस्कृतिक कार्य के छोटे-से बीज से बहुत फल देनेवाला बड़ा वृक्ष बन जाता है । सांस्कृतिक कार्य कल्पवृक्ष की तरह फलदायी होते हैं । अपने ही जीवन की उन्नति, विकास और आनन्द के लिए हमें अपनी संस्कृति की सुध लेनी चाहिए। आर्थिक कार्यक्रम जितने आवश्यक हैं, उनसे कम महत्त्व संस्कृति-सम्बन्धी कार्यों का नहीं है। दोनों एक ही रथ के दो पहिये हैं, एक-दूसरे के पूरक हैं, एक के बिना दूसरे की कुशल नहीं रहती । जो उन्नत देश हैं, वे दोनों कार्यों को एक साथ सम्हालते हैं। वस्तुत: उन्नति करने का यही एक मार्ग है । मन को भुलाकर केवल शरीर की रक्षा पर्याप्त नहीं है ।

संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगपूर्ण प्रकार है । हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है । संस्कृति हवा में नहीं रहती, उसका मूर्तिमान् रूप होता है । जीवन के नानाविध रूपों का समुदाय ही संस्कृति है । जब विधाता ने सृष्टि बनाई तो पृथ्वी और आकाश के बीच का विशाल अन्तराल नाना रूपों से भरने लगा । सूर्य, चन्द्र, तारे, मेघ, षड्ऋतु, उषा, संध्या आदि अनेक प्रकार के रूप हमारे आकाश में भर गये । ये देवशिल्प थे । देवशिल्पों से प्रकृति की संस्कृति भुवनों में व्याप्त हुई । इसी प्रकार मानवी जीवन के उषाकाल की हम कल्पना करें । उसका आकाश मानवीय शिल्प के रूपों से भरा गया । इस प्रयत्न में सहस्रों वर्ष लगे । यही संस्कृति का विकास और परिवर्तन है । जितना भी

जीवन का ठाठ है, उसकी सृष्टि मनुष्य के मन, प्राण और शरीर के दीर्घ-कालीन प्रयत्नों के फलस्वरूप हुई है। मनुष्य-जीवन रुकता नहीं, पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढता है। संस्कृति के रूपों का उत्तराधिकार भी हमारे साथ चलता हैं। धर्म, दर्शन साहित्य, कला उसीके अंग हैं।

संसार में देश-भेद से अनेक प्रकार के मनुष्य हैं। उनकी संस्कृतियां भी अनेक हैं। यहां नानात्व अनिवार्य है, वह मानवीय जीवन का झंझट नहीं, उसकी सजावट है। किन्तु देश और काल की सीमा से बंधे हुए हमारा घनिष्ठ परिचय या सम्बन्ध किसी एक संस्कृति से ही सम्भव है। वही हमारी आत्मा और मन में रमी हुई होती है और उनका संस्कार करती है। यों तो संसार में अनेक स्त्रियां और पुरुष हैं, पर एक जन्म में जो हमारे माता-पिता बनते है उनके गुण हममें आते हैं और उन्हींको हम अपनाते हे। ऐसे ही संस्कृति का सम्बन्ध है, वह सच्चे अर्थों में हमारी धात्री होती है। इस दृष्टि से वह संस्कृति हमारे मन का मन, प्राणों का प्राण और शरीर का शरीर होती है। इसका यह अर्थ नहीं कि हम अपने विचारों को किसी प्रकार संकुचित कर लेते हैं। सच तो यह है कि जितना अधिक हम एक संस्कृति के मर्म को अप-नाते हैं, उतने ही ऊंचे उठकर हमारा व्यक्तित्व संसार के दूसरे मनुष्यों, धर्मों, विचारधाराओं और संस्कृतियों से मिलने और उन्हें जानने के लिए समर्थ और अभिलाषी बनता है। अपने केन्द्र की उन्नति बाह्य विकास की नींव है। कहते हैं, घर खीर तो बाहर भी खीर; घर में एकादशी तो बाहर भी सब सूना। एक संस्कृति में जब हमारी निष्ठा पक्की होती है तो हमारे मन की परिधि विस्तृत हो जाती है, हमारी उदारता का भंडार भर जता है। संस्कृति जीवन के लिए परम आवश्यक है। राजनीति की साधना उसका केवल एक अंग है। संस्कृति राजनीति और अर्थशास्त्र दोनों को अपने में पचाकर इन दोनों से विस्तृत मानव-मन को जन्म देती है। राजनीति में स्थायी रक्त-संचार केवल संस्कृति के प्रचार, ज्ञान और साधना से सम्भव है। संस्कृति जीवन के वृक्ष का संवर्धन करनेवाला रस है। राजनीति के क्षेत्र में तो उसके इने-गिने पत्ते ही देखने में आते हैं अथवा यों कहें कि राजनीति केवल पथ की साधना है, संस्कृति उस पथ का साध्य है।

भारतीय राष्ट्र अब स्वतंत्र हुआ है। इसका अर्थ यह है कि हमें अपनी इच्छा के अनुसार अपना जीवन ढालने का अवसर प्राप्त हुआ है। जीवन का जो नवीन रूप हमें प्राप्त होगा, वह अकस्मात अपने-आप आ गिरनेवाला नहीं है। उसके लिए जान-बूझकर निश्चित विधि से हमें प्रयत्न करना होगा। राष्ट्र-संवर्धन का सबसे प्रबल कार्य संस्कृति की साधना है। उसके लिए बुद्धिपूर्वक प्रयत्न करना आवश्यक है। देश के प्रत्येक भाग में इस प्रकार के प्रयत्न आवश्यक हैं। इस देश की संस्कृति की धारा अति प्राचीन काल से बहती आई है। हम उसका सम्मान करते हैं, किन्तु उसके प्राणवंत तत्त्व को अपनाकर ही हम आगे बढ़ सकते हैं। उसका जो जड़ भाग है, उस गुरु-तर बोझ को यदि हम ढोना चाहें तो हमारी गति में अड़चन उत्पन्न हो सकती है। निरन्तर गति मानव-जीवन का वरदान है। व्यक्ति हो या राष्ट्र, जो एक पड़ाव पर टिक रहता है, उसका जीवन ढलने लगता है। इस-लिए 'चरैवेति चरैवेति' की धुन जबतक राष्ट्र के रथ-चक्रों में गूंजती रहती है, तभीतक प्रगति और उन्नति होती है, अन्यथा प्रकाश और प्राणवायु के कपाट बन्द हो जाते हैं और जीवन रुंध जाता है। हमें जागरूक रहना चाहिए, ऐसा न हो कि हमारा मन परकोटा खींचकर आत्म-रक्षा की साध करने लगे।

पूर्व और नूतन का जहां मेल होता है वही उच्च संस्कृति की उप-जाऊ भूमि है। ऋग्वेद के पहले ही सूक्त में कहा गया है कि नये और पुराने ऋषि दोनों ही ज्ञानरूपी अग्नि की उपासना करते हैं। यही अमर सत्य है। कालिदास ने गुप्त-काल की स्वर्णयुगीन भावना को प्रकट करते हुए लिखा है कि जो पुराना है वह केवल इसी कारण अच्छा नहीं माना जा सकता, और जो नया है उसका भी इसीलिए तिरस्कार करना उचित नहीं। बुद्धिमान दोनों को कसौटी पर कसकर किसी एक को अपनाते हैं। जो मूढ़ हैं, उनके पास घर की बुद्धि का टोटा होने के कारण वे दूसरों के भुलावे में आ जाते हैं। गुप्त-युग के ही दूसरे महान विद्वान् श्री सिद्धसेन दिवाकर ने कुछ इसी प्रकार के उद्गार प्रकट किये थे—"जो पुरातन काल था वह मर चुका। वह दूसरों का था। आज का जन यदि उसको पकड़कर बैठेगा तो वह भी पुरातन की तरह ही मत हो जायगा। पुराने समय के जो विचार हैं, वे तो

अनेक प्रकार के हैं। कौन ऐसा है जो भली प्रकार उनकी परीक्षा किये बिना अपने मन को उधर जाने देगा ?"

जनोऽयमन्यस्य मृतः पुरातनः
पुरातनैरेव समो भविष्यति ।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः
पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत ॥

अथवा, "जो स्वयं विचार करने में आलसी है वह किसी निश्चय पर नहीं पहुंच पाता। जिसके मन में सही निश्चय करने की बुद्धि है, उसीके विचार प्रसन्न और साफ-सुथरे रहते हैं। जो यह सोचता है कि पहले आचार्य और धर्मगुरु जो कह गये, सब सच्चा है, उनकी सब बात सफल है और मेरी बुद्धि या विचार शक्ति टुटपुंजिया है, ऐसा 'बाबा वाक्य प्रमाण' के ढंग पर सोचनेवाला मनुष्य केवल आत्महनन का मार्ग अपनाता है :

विनिश्चयं नैति यथा यथालसस्तथा तथा निश्चितवान् प्रसीदति ।
अवन्ध्यवाक्या गरवोऽहमल्पधीरिति व्यवस्यन् स्ववधाय धावति ॥

"मनुष्यों के चरित्र मनुष्यों के कारण स्वयं मनुष्यों द्वारा दी निश्चित किये गये थे। यदि कोई बुद्धि का आलसी या विचारों का दरिद्री बनकर हाथ में पतवार लेता है तो वह कभी उन चरित्रों का पार नहीं पास कता, जो अथाह हैं और जिनका अन्त नहीं। जिस प्रकार हम अपने मत को पक्का समझते हैं, वैसे ही दूसरे का मत भी तो हो सकता है। दोनों में से किसकी बात कही जाय ? इसलिए दुराग्रह को छोड़कर परीक्षा की कसौटी पर प्रत्येक वस्तु को कसकर देखना चाहिए।" गुप्तकालीन संस्कृति के ये गूंजते हुए स्वर प्रगति, उत्साह, नवीन पथ-संशोधन और भारमुक्त मन की सूचना देते हैं। राष्ट्र के अर्वाचीन जीवन में भी इसी प्रकार का दृष्टि-कोण हमें ग्रहण करना आवश्यक है। कुषाण-युग के आरम्भ की मानसिक स्थिति का परिचय देते हुए महाकवि अश्वघोष ने तो यहांतक कहा था कि राजा और ऋषियों के उन आदर्श चरित्रों को जिन्हें पिता अपने जीवन में पूरा नहीं कर सके, उन्हें पुत्रों ने कर दिखाया—

राज्ञाम् ऋषीणां चरितानि तानि कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वैः ।

नये और पुराने के संघर्ष में इस प्रकार का सुलझा हुआ और साहसपूर्ण दृष्टिकोण रखना आवश्यक है। इसमें प्रगति का मार्ग खुला रहता है, अन्यथा भूतकाल कंठ में पड़े खटखटे की तरह बारबार टकराकर हमारी गाड़ियों को तोड़ता रहता है। भारतवर्ष जैसे देश के लिए यह और भी आवश्यक है कि वह भूतकाल की जड़पूजा में कहीं फंसकर उसीको संस्कृति का अंग न मानने लगे। भूतकाल की रूढ़ियों से ऊपर उठकर उसके नित्य अर्थ को ग्रहण करना चाहिए। आत्मा को प्रकाश से भर देनेवाली उसकी स्फूर्ति और प्रेरणा स्वीकार करके आगे बढ़ना चाहिए। जब कर्म की सिद्धि पर मनुष्य का ध्यान जाता है, तब वह अनेक दोषों से बच जाता है। जब कर्म से भयभीत व्यक्ति केवल विचारों की उलझन में फंस जाता है, तब वह जीवन की किसी नई पद्धति या संस्कृति को जन्म नहीं दे पाता। अतएव आवश्यक है कि पूर्वकालीन संस्कृति के जो निर्माणकारी तत्त्व हैं, उन्हें लेकर हम कर्म में लगें और नई वस्तु का निर्माण करें। इस प्रकार भूतकाल खाद बनकर विशेष उपयोगी बनता है। भविष्य का विरोध करके पदे-पदे उससे जूझने में और उसकी गति कुंठित करने में भूतकाल का जब उपयोग किया जाता है, तब नये और पुराने के बीच एक खाई बन जाती है और समाज में दो प्रकार की विचारधाराएं फैलकर संघर्ष को जन्म देती हैं। हमें अपने भूतकालीन साहित्य में आत्मत्याग और मानवसेवा का आदर्श ग्रहण करना होगा। अपनी कला में से अध्यात्म भावों को, प्रतिष्ठा और सौंदर्य-विधान के अनेक रूपों और अभिप्रायों को पुनः स्वीकार करना होगा। अपने दार्शनिक विचारों में से उस दृष्टिकोण को अपनाना होगा, जो समन्वय, मेल-जोल, समवाय और संप्रीति के जीवनमंत्र की शिक्षा देता है, जो विश्व के भावी सम्बन्धों का एकमात्र नियामक दृष्टिकोण कहा जा सकता है। अपने उच्चाशयवाले धार्मिक सिद्धान्तों को मथकर उनका सार ग्रहण करना होगा। धर्म का अर्थ सम्प्रदाय या मत-विशेष का आग्रह नहीं है। रूढ़ियां रुचि-भेद से भिन्न होती रही हैं और होती रहेंगी। धर्म का मथा हुआ सार है प्रयत्नपूर्वक अपने-आपको ऊंचा बनाना। जीवन को उठानेवाले जो नियम हैं, वे जब आत्मा में बसने लगते हैं, तभी धर्म का सच्चा आरम्भ मानना चाहिए। साहित्य, कला, दर्शन और धर्म से जो मूल्यवान सामग्री

हमें मिल सकती है, उसे नये जीवन के लिए ग्रहण करना, यही सांस्कृतिक कार्य की उचित दिशा और उपयोगिता है।

: ४ :

मानव की व्याख्या

अर्वाचीन विचारधारा मानव केन्द्रिक है, अर्थात, जीवन के प्रत्येक अनुष्ठान का मध्यवर्ती बिन्दु मनुष्य है। वही प्रयोग आज महत्वपूर्ण है, जिसका इष्टदेवता मनुष्य है। जिस कार्य का फल साक्षात ऐहलौकिक मानव-जीवन के लिए न हो, जो मनुष्य की अपेक्षा स्वर्ग के देवताओं को श्रेष्ठ समझता हो, वह आधुनिक जीवन-पद्धति के अनुकूल नहीं है। विज्ञान, कला, साहित्य, राजनीति सबकी उपयोगिता की एकमात्र कसौटी मानव का प्रत्यक्ष लाभ और प्रत्यक्ष जीवन है। प्रत्येक क्षेत्र में विचारों की हलचल मनुष्य के इसी रूप को पकड़ना चाहती है। इस दृष्टिकोण से एक ओर मानव की प्रतिष्ठा बढ़ी है, दूसरी ओर स्वर्ग की ओर उड़नेवाले मनुष्य के विचारों ने पृथिवी की कुशल पूछने का नया पाठ पढ़ा है। यह सच है कि अभी अनेक क्षेत्रों में यह नया पाठ पूरी तरह गले के नीचे नहीं उतरा है और स्वार्थों के पुराने गढ़ इसके विरोधी हैं, पर विश्व के विचारों का ध्रुव-बिन्दु आज मानव के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। विश्व-क्षितिज का प्रत्येक नया ग्रह मानवरूपी केंद्र के चारों ओर ही मंडराता है। विश्व-मानव प्राची के कोने में अपने बिखरे तेज को समेटता हुआ अधिकाधिक सामने आ रहा है। राजनीति के सतरंगे वादों से कहीं ऊपर विश्वमानव के ऐक्य, भ्रातृत्व या मानववाद का जन्म दुर्धर्ष गति से हो रहा है। जो आज नहीं हुआ है, वह कल होकर रहेगा।

जो मानव इतना महनीय है, जो विश्व की परिधि का केन्द्र-बिन्दु है, वह यथार्थ में है क्या? क्या वह मिट्टी, पानी, आग, हवा का एक पुतला भर है? क्या वह एक नगण्य बुलबुला है, जिसकी उपमा के करोड़ों-अरबों बुलबुले प्रत्येक शताब्दी में जन्म लेते और विलीन हो जाते हैं?

यदि ऐसा ही है तो नाखूनी पंजोंवाले कालचक्र को अपनी गति से घूमने दो। वह इस बापुरे मानव को कहां ठौर दे और क्यों? छीलर के जल में चोंच मारती हुई हंसिनी की भांति ऐसे मानव की वराकी बुद्धि के लिए हमारे मन में क्या आस्था हो? वह तो क्षुद्र है, असमर्थ है, स्वार्थ से अभिभूत है, विश्व के अनन्त दुर्धर्ष प्रवाह में उसकी कोई महिमा या प्रतिष्ठा नहीं। अतएव मानव की सच्ची व्याख्या का आज नया मूल्य है। विश्व के मनो-क्षेत्र में मानव की प्रतिष्ठा की दार्शनिक पृष्ठभूमि मानव की सच्ची व्याख्या ही हो सकती है।

मनुष्य केवल-मात्र स्थूल शरीर नहीं है। पांच या चार तत्वों के अक-स्मात क्रमबद्ध हो जाने से मनुष्य नहीं बन गया। रासायनिक प्रक्रिया से ९२ तत्वों के किसी प्रकार रचपचकर एक हो जाने से मानव का पुतला सामने आ गया हो, केवल यही अन्तिम सत्य नहीं है। अन्नमय पुरुष अवश्य ध्रुवसत्य है। उसे ही आजकल की परिभाषा में 'बायोलाजिकल मैन' कहेंगे। अशनाया इसी मानव की विशेषता है। पुत्रैषणा या काम इसी मानव का क्षेत्र है। प्रकृति के विराट संविधान में यह मानव अत्यन्त महत्व-पूर्ण है, जो प्रथम तो अन्न द्वारा देह का पोषण करता है और फिर प्रजनन द्वारा सृष्टि-क्रम को जारी रखता है। आहार और मैथुन जिसकी विशेषता है, वह मानव वास्तविक है, स्थूल है, उसे हम मानव के भीतर का पशुभाग कह सकते हैं।

इसीके साथ मानव में एक दैवी अंश है। वह इसका मनोमय और विज्ञानमय भाग है, जो स्थूल शरीर की अपेक्षा कम सत्य और वास्तविक नहीं है। भारतीय परिभाषा के अनुसार मानव में मर्त्य और अमृत का संयोग है। शरीर मर्त्य और मन अमृत भाग है। मर्त्य भाग उसे पार्थिव जगत के साथ बांधे हुए है। अन्न और वायु इसी मर्त्य भाग की प्रतिष्ठा हैं। ये दोनों मानव की लौकिक स्थिति के लिए अनिवार्य हैं। इस मानव की परिपूर्ण साधना के बिना पृथिवी का ऋण नहीं उतरता। अतृप्त वासनाएं पुनः-पुनः मानव के भीतर के पशु भाग को अपने वश में कर लेती हैं। वास्तविकता के अनुसार व्यवहार में प्रवृत्त होनेवाला कोई व्यक्ति मानव के इस स्वरूप का निराकरण करने की बात कभी नहीं सोच सकता।

मनुष्य के भीतर ही उसका दैवी अंश भी है। वस्तुतः मन ही एक देव है, जो सब मानवों में प्रतिष्ठित है। 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढ़ः'—इस गूढ़ देव को प्रकट करना और जीवन के हर कार्य में इसे अधिकाधिक प्रकट करना, यह मानव का दैवी संदेश या कार्य है। इसका पूरा होना भी उतना ही आवश्यक है, जितना अन्न और काम के प्रति संतुलित अवस्था प्राप्त करना आवश्यक है। मानव के समक्ष दोनों ही समस्याएं एक जैसी आवश्यक हैं। एक का हल करना जितना आवश्यक है, दूसरी का हल भी उतना ही अनिवार्य है। दोनों के समन्वय के बिना संतुलित मानव का आविर्भाव नहीं हो सकता। जबतक मर्त्य और अमृत भागों का एक-सा विकास न किया जायगा, मानव अतृप्त और अपूर्ण ही रहेगा। उसका जीवन और उसके सब कार्य अधूरे रहेंगे। जो स्थूल मानव है वह प्रकृति का अनुचर है। जो आध्यात्मिक प्राणी है, वही प्रकृति का स्वामी है। जो अशनाया-ग्रस्त है वह प्रकृति के साथ द्वन्द्व में फंसा है। उसके चारों ओर सीमाभाव है। वासना, अधिकार-लिप्सा, ईर्ष्या और हिंसा, ये उस मानव के जीवन में उत्पन्न हो गये हैं, जो उसके अधिकांश दुःखों के कारण हैं। आध्यात्मिक मानव के विकास से ही मानव इन कमज़ोरियों से ऊपर उठ सकेगा। अध्यात्म की अभिव्यक्ति के साथ मानव के विकास का नया धरातल शुरू होता है। अशनाया-प्रधान मानव के प्रायः अनेक नियम यहां दूसरे प्रकार के हो जाते हैं। जो मर्त्य अंश भोग चाहता है, वही अध्यात्म या अमृत संस्कृति में उन भोगों को छोड़ना चाहता है, उनके ऊपर मानसिक विजय प्राप्त करके अपने-आपको उनसे ऊपर के धरातल पर ले जाता है। प्राकृत अवस्था में जो मानव का पशु भाग है, वह अध्यात्म संस्कृति में त्याग के द्वारा दैवी गुणों को ग्रहण करता है। पशु को स्वरूप-परिवर्तन के द्वारा देव बनाना, यही अध्यात्म प्रगति है। इसीका पुराना नाम यज्ञ है। यज्ञ की भूमिका मनुष्य का अपना शरीर और मन है। यज्ञीय भावों को सम्पूर्णतया अपनाये बिना हम उन मानसिक वासनाओं से बच ही नहीं सकते, जो हमें अधिकार-लिप्सा, स्वार्थ-साधना या हिंसा की ओर ले जाती हैं। मानव का स्थूल हिंसा-प्रधान जीवन क्षात्र धर्म है। इससे ऊपर प्रेम और त्याग का जीवन ब्राह्म संस्कृति है। वह दैवी अंश है। वह अमृत भाग है। वही श्रेष्ठ कर्म है, जिसे यज्ञ भी कहा

है। विश्वात्मा के लिए यज्ञीयभाव या ग्रात्मसमर्पण के बिना विश्वमानव का जन्म असम्भव है। ग्राज सर्वत्र विश्वमानव की ग्रावश्यकता का ग्रनुभब किया जा रहा है। प्रत्येक जाति ग्रौर देश का लक्ष्य विश्व-बन्धुत्व की प्राप्ति है। उसका सीधा-सादा ग्रर्थ यही है कि एक मानव में जो ग्रधिकार ग्रौर स्वार्थ की सत्ता है, वह दूर होनी चाहिए, विश्वमानव के साथ उसके मनोभावों का स्वच्छन्द मेल होना चाहिए। जो हालत एक मानव की है वही एक समूह, सम्प्रदाय, जाति या देश की हो सकती है। उसकी संकीर्णता का निराकरण उसके स्वास्थ्य के लिए उतना ही ग्रावश्यक है, जितना एक व्यक्ति का विश्व के साथ संतुलित होने के लिए ग्रपने सीमाभाव को छोड़ना है। क्या राष्ट्र या मानवों के पृथक् समुदाय भी इस प्रकार के प्रयोगों में सामूहिक रुचि ले सकेंगे ? ग्राज इस प्रश्न पर धुंग्रा-सा छाया हुग्रा है। परन्तु जिनकी दृष्टि स्वच्छ है उन्हें यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि मानव के ग्रमृत ग्रंश का, उसकी ग्रध्यात्म-संस्कृति का विकास होकर ही रहेगा। उसी ग्रोर संघर्ष, द्वन्द्व ग्रौर हिंस्र मार्ग से भी मानव को ग्रन्ततोगत्वा जाना ही पड़ेगा। इसका विरोध करके कोई भी कुशलपूर्वक नहीं रह सकता। किसी एक की विजय ग्रध्यात्म-मानव की हत्या करके ही संभव है। सबकी विजय के लिए ग्रध्यात्म-संस्कृति, त्याग ग्रौर यज्ञीय भावों के धरातल पर सबको ग्राना ही पड़ेगा। सबकी विजय का मार्ग वही होगा, जिसमें हरएक की विजय दिखाई पड़े, किसी एक की ही नहीं। विश्वात्मा के मन को उन्मुक्त करने के लिए सबकी मुक्ति ग्रावश्यक है। स्थूलरूप में जब एक राष्ट्र या समूह शक्तिशाली बनता है तब वह ग्रौरों की मानसी हत्या करके ही उनके ऊपर ग्रपने ग्रधिकार की स्थापना कर पाता है। किन्तु ग्रध्यात्म-सस्कृति का मार्ग भिन्न है। उसमें हरएक को ऊपर उठाकर ग्रपनी उन्नति की जाती है। दूसरों के प्रति उन्मुक्त उदारता, सेवा, प्रेम ग्रौर ग्रात्मीयता के द्वारा ही हम विश्वात्मा या विश्वमानव के साथ एक हो पाते हैं। ग्राज विज्ञान के प्रांगण में विश्वमानव का शीघ्रता से जन्म हो रहा है। राजनीति के क्षेत्र में ग्रभी उसकी प्रगति पकड़ी नहीं जा सकती। यही बड़ी ग्रड़चन दिखाई देती है। किन्तु विज्ञान के पीछे मानव के उच्च विकास का जो दर्शन है वह पूर्ण होकर रहेगा। ग्राज शक्तिमत्ता के साथ त्याग के मंत्र की

आवश्यकता है। गृहस्थाश्रम के संचय के साथ वानप्रस्थ और संन्यास के अपरिग्रह धर्म की भी आवश्यकता है। आत्मरक्षा के साधनों के विकास के साथ दूसरों को अभय की स्थिति में लाने की भी उतनी ही आवश्यकता है। क्षात्रधर्म के साथ ब्रह्मधर्म को भी विकसित करना होगा। शरीर की भोग-प्रधान आवश्यकताओं को साधने के साथ-साथ त्याग-प्रधान अध्यात्म संस्कृति का भी विकास करना होगा। इसीमें मानव का सच्चा हित है। इसीसे उसकी महिमा की पूर्ण अभिव्यक्ति सम्भव है।

: ५ :

पिता का पिता : बालक

सृष्टि की रहस्य-भरी महान् प्रक्रिया में बालक नित्य नूतन का रूप है। बालक पिता का जनयिता है, वह पिता का पिता है। भविष्य में जो कुछ आनेवाला है, उसके जन्म का द्वार बालक है। वैदिक मनीषियों का यह साक्षात् दर्शन अत्यन्त प्रिय लगता है जो बालक के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण है—

नवो नवो भवति जायमानः।

अनादि अनन्त मूलतत्त्व प्रतिक्षण जन्म द्वारा नवीन बन रहा है। यही उसका सनातन शाश्वत अमर भाव है। बालक उस नवीन जन्म का सबसे सुन्दर और कलात्मक रूप है। सृष्टि की दुर्धर्ष सनातनी शक्ति का साक्षात् दर्शन करना चाहें तो बालरूप मे उसे मूर्तिमान् देखें। स्वर्ग की आर्य ज्योति को अपने इस मर्त्यलोक में देखना चाहें तो बालक के ब्रह्मचर्य प्रोक्षित निर्विकार मुख पर उसे देख सकते है। ईश्वर की दैवी सम्पत्ति या स्थित-प्रज्ञ की ब्राह्मी स्थिति का साक्षात् परिचय करना चाहें तो अपने चारों ओर किलकारी मारते हुए बाल-नारायण का दर्शन करें।

प्रकृति अपना जीर्णभाव पीछे छोड़कर बालक के रूप में पुनः नवीन होती है। काल के जराजीर्ण जड़ बोझे से मुक्ति पाने का अत्यन्त रहस्य-

मय प्रयोग बालक का प्रादुर्भाव है। बाल-तृण, बाल-पादप, बाल-लता, बाल-पुष्प, बाल-मृग, बाल-सहकार, बाल-कुन्द, बाल-कदली, बाल-मृणाल, बाल-चन्द्र, बाल-रवि, बालक—ये सब प्रकृति की बाल-लीला के अमर केतु हैं। इनके प्रतीक पर देवों की सनातन ब्राह्मीलिपि के अंक लिखे हैं, जिनमें नित-नूतन का अमृत झरना झर रहा है और सृष्टि के अखण्ड जीवन-प्रवाह को देश और काल में सर्वत्र सर्वदा आगे बढ़ा रहा है। इस भागवती बाल-लीला में कितना आनन्द है, यह बालचर्या कितनी आवश्यक है, यह बाल-भाव नारायणीय धर्म का कितना मनोहर रूप है? सृष्टि की निरुपम सत्ता, चैतन्य और आनन्द का एकत्र निवास मूर्तिमन्त बालक है, जिसके प्रादुर्भाव की सामाजिक प्रयोगशाला गृहस्थ है। इसीलिए भगवान् वेदव्यास ने कहा है कि सब आश्रमों में अधिक चमकीला और सशक्त संकल्प या कर्म का निर्णय जिस आश्रम में है वह अत्यन्त पावन गृहस्थाश्रम है :

सर्वाश्रमपदेऽप्याहुर्गार्हस्थ्यं दीप्त निर्णयम्।
पावनं पुरुष व्याघ्र यद्धर्मं पर्युपासते ॥ (शान्ति० ६६।३५)

गृहस्थ की पावन भूमि और पावन आकाश माता-पिता हैं। माता-पिता का युग्म सृष्टि की आवश्यकता है। थलचर, जलचर, नभचर सबमें पार्वती परमेश्वर रूप पितरों के प्रतीक माता-पिता बालक को जन्म दे रहे हैं। उनके सत्य, शिव, सुन्दर प्रयत्न से स्वर्ग की आर्य-ज्योति मानव के लिए भूतल पर आ रही है :

विदत् स्वर्मनवे ज्योतिरार्यम् (ऋ० १०।४३।४)

वही पावन ज्योति बालक है। मानव को बालक में अपने ही सनातन रूप का नूतन दर्शन मिल रहा है।

बालक का मन विश्वात्मा के साथ मिला है। बालक की भाषा विश्व-भाषा है। भाषाओं के भेद, मानवों को पृथक करनेवाली सीमाएं बालक के विश्वचैतन्य का स्पर्श नहीं करतीं। बालक विश्व की एकता का बलवान् प्रमाण है। वह सदा से हमारे मध्य में है? और सदा रहेगा। उसकी सत्ता हमारे भेदग्रस्त मन को स्वास्थ्य देने के लिए आवश्यक है।

बालक प्रजापति-का विश्वतोमुखी रूप है। जीर्ण वृद्ध, तरुण स्त्री, पुरुष, कुमार-कुमारी और विश्वतोमुखी बाल—ये प्रजापति की चार अवस्थाएं हैं—

त्वं स्त्री त्वं पुमान् त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतो मुखः ॥

बाल-रूप में जन्म लेता हुआ प्राण का नवीन अंकुर सचमुच विश्व-मुखी है। उसके विकास के सहस्रों द्वार खुले हैं। उसके मुख अर्थात् प्राण और रसग्रहण के तन्तु एवं विकास के पथ सब ओर फैले हुए हैं।

नये शब्दों में कहें तो बालक के भीतर अनन्त सम्भावनाओं के बीज हैं। विश्व में ऐसा कुछ नहीं जो बीज रूप में बालक के भीतर न हो, समय पाकर वे ही बीज विकसित और संवर्द्धित होते हैं। बालक के मुख में पड़नेवाला चुग्गा विश्व की हवि है। अतएव विश्व-सम्प्राप्ति के लिए बालक की उपासना करनी आवश्यक है। मानव-जाति अपने बालकों की रक्षा द्वारा विश्व की प्राप्ति का विधान रचती है। मानव की अखण्ड परम्परा में एक-एक पीढ़ी एक कड़ी है। मानव का समस्त ज्ञान-विज्ञान और कर्म प्रत्येक पीढ़ी को पुनः धारण करना होता है। पूर्वजों ने जो किया और जो जाना, उसे बालक के कर्म और ज्ञान में नवीन अवतार लेना पड़ेगा। इस प्रकार प्रयत्न से जो नई पीढ़ी तैयार होती है, वह उस शृंखला में एक कड़ी है, जो मानव-जाति का गौरवमय अतीत और आशा-मय भविष्य है।

बालक की शक्तियां अकुण्ठित हैं। उसके ज्ञान और कर्म की इयत्ता नहीं। जो पूर्वजों ने नहीं किया, उसे आनेवाले पुत्र करेंगे ; यही मानव की सत्यात्मक शुद्ध निष्टा होनी चाहिए—

राज्ञामृषीणां चरितानि तानि।
कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वैः (अश्वघोष, बुद्धचरित १।४६)

"राजाओं तथा ऋषियों के पुत्रों ने वे-वे कर्म किये हैं, जिन्हें उनके पूर्वजों ने नहीं किया।"

जो पूर्वजों ने किया, उसका उत्तरदायित्व वर्त्तमान पीढ़ी धारण करती है और उससे भी आगे बढ जाने का उसका जन्म-प्राप्त कर्त्तव्य है। बड़े-बड़े जो कर गये, वह उनके ही पुत्रों से न होगा—इस प्रकार झंखने-वालों के लिए शोक है। अपने-आपमें ही विश्वास खो देने से क्या लाभ ? अश्वघोष ने महायान-युग के आशावादी दृष्टिकोण का सूत्र उदात्त शब्दों में रखा :

"कृतानि पुत्रैः अकृतानि पूर्वैः।

जो माता-पिता ने अधूरा छोड़ा, उसे पुत्र पूरा करेंगे। महाकाल के साथ मिलकर जीवित रहने का दृष्टिकोण यही है। काल का जो जीर्ण भाग है, जो जराग्रस्त है, जो पुरातन है, वह हो-बीता, वह मृत हो गया। उसे आगे आनेवाले पुत्र ही नया जीवन प्रदान करेंगे। यह सोचना कि पहली पीढ़ियां अपने साथ बुद्धि का सारा चमत्कार बटोरकर ले गई और अब बुद्धि का दिवाला ही शेष है, आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के शब्दों में आत्मघात है :

अवन्ध्य वाक्या गुरवोऽहमल्पधी-
रिति व्यवस्यन् स्ववधाय धावति।
(पूर्व-नूतन द्वात्रिंशिका श्लोक ६)

संसार के अपार विस्तार में बालक प्राण का व्यक्त केन्द्र है। पुराणों की अत्यन्त मनोहर कल्पना के अनुसार प्रलय-समुद्र में विश्वरूपी वट-वृक्ष के तैरते हुए एक पर्ण पर नारायण बाल-रूप में प्रकट होते हैं। वैज्ञानिक की भाषा में अजन्तुक (Azoic) युग के प्रलयात्मक विस्तार से कोई अव्यक्त, अचिन्त्य तत्व प्रथम चैतन्य बिन्दु के रूप में व्यक्त होता है। वही विश्व का आरम्भिक बालक है, जिसकी चर्या या लीला से पूर्ण जीवन अस्तित्व में आता है। क्षीर सागर के वटपत्र-नारायण की परिभाषा भारतीय दर्शन और पुराण की नितान्त सुन्दर कल्पना है।

बालक अमृत का सेतु और अजर-प्राण का केतु है। बालक के मन में मृत्यु की कल्पना नहीं होती। बालक के चैतन्य में मृत्यु का अनुभव नहीं होता। प्राण और जीवन की ओजायमान ऊर्जस्वी धारा बालक में

बहती है। बालक का मन अमृत का ऐसा उत्स है, जो कभी विषाक्त या विकृत नहीं होता। यही सृष्टि की बड़ी आशा है। प्रत्येक शती में मानव-जाति पुनः-पुनः बाल युवा और पुनः वृद्ध बनती है। काल के जराजीर्ण अंश से मुक्त होने के लिए वह पुनः-पुनः बाल-भाव में आती रहेगी, यही जीवन का स्वर्ण विधान है। व्यक्ति और राष्ट्र को चाहिए कि अपने ही कल्याण के लिए उमंग कर बाल-भाव की उपासना करें।

: ६ :

ऋषिभिर्बहुधा गीतम्

भारत जैसे विशाल देश के लिए विचार-जगत् का एक ही अमृत सूत्र हो सकता था, और उसे यहां के विचारशील विद्वानों ने तत्त्व-मंथन के मार्ग पर चलते हुए आरम्भ में ही ढूंढ़ निकाला। वह सूत्र इस प्रकार है:

'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (**ऋग्वेद** १।१६४।४६)

अर्थात्—एक सत् तत्त्व का वर्णन मननशील विप्र अनेक प्रकार से करते हैं।

इस निचोड़ पर जितना विचार किया जाय उतनी ही श्रद्धा इसके मूल द्रष्टा के प्रति होती है। सचमुच वह व्यक्ति अपने मन के अपरिमित औदार्य के कारण भारतीय दार्शनिकों के भूत और भावी संघ का एकमात्र संघपति होने के योग्य था। भारतीय देश में दार्शनिक चिन्तन की जो बहुमुखी धाराएं बही हैं, जिन्होंने युगयुगान्तर में स्वच्छन्दता से देश के मानस-क्षेत्र को सींचा है, उनका पहला स्रोत **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** के 'बहुधा' पद में प्रस्फुटित हुआ था। हमारे राष्ट्रीय मानस-भवन का जो बहिर्द्वार तोरण है उसके उतरंगे पर हमें यह मन्त्र लिखा हुआ दिखाई पड़ता है। मन्त्र का 'बहुधा' पद उसकी प्राण-शक्ति का भंडार है, जिसके कारण हमारे चिन्तन की हलचल संघर्ष के बीच होकर भी अपनी प्रगति बनाये रख सकी। अपने ही बोझ से जब कभी उसका मार्ग अवरुद्ध होने लगा है

तभी उस अवरोध पर विजय पाकर 'बहुधा' पद के प्राणवन्त वेग ने उसे आगे बढ़ाने का रास्ता दिया है।

'**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**' यह विचार-सूत्र न केवल हमारे विस्तृत देश की आवश्यकता की पूर्ति करता है, अपितु विचार के जगत् में हमारे मनीषी जितना ऊंचा उठ सके थे उसके मानदंड को भी प्रकट करता है।

इस विशाल देश में अनेक प्रकार के जन हैं जो विविध भाषाओं, अनमेल विचारों, नाना भांति की रहन-सहन, अनमेल धार्मिक विश्वासों और रीति-रिवाजों के कारण आपस में रगड़ खाते हुए एक साथ बसते रहे हैं; किन्तु जिस प्रकार हिमालय में गंगा नदी अपने उदर में पड़े हुए खड़-पत्थरों की कोर छांटकर उन्हें गोल गंगलोढ़ों में बदल देती है, उसीसे मिलती-जुलती समन्वय की प्रक्रिया हमारे देश के इतिहास में पाई जाती है। न जाने कैसी-कैसी खड़-जातियां यहां आकर बसीं, कैसे-कैसे अक्खड़ विचार इस देश में फैले; किन्तु इतिहास की दुर्धर्ष टक्करों ने सबकी कोर छांटकर उन्हें एक राष्ट्रीय संस्कृति के प्रवाह में डाल दिया। उनकी आपसी रगड़ से विभिन्न विचार भी घुल-मिल कर एक होते गये—ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार गंगा के घराट में पिसी हुई बालू, जिसके कणों में भेद की अपेक्षा साम्य अधिक है।

सौभाग्य से हमारे इतिहास के सुनहले उषाकाल में ही समन्वय और सहिष्णुता के भाव सूर्य-रश्मियों की तरह हमारे ज्ञानाकाश में भर गये। राष्ट्रीय जन की प्राकृतिक विभिन्नता की ओर संकेत करते हुए 'पृथिवी सूक्त' का ऋषि कहता है—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् (अथर्व १२।१।४५)

अर्थात्—"भिन्न-भिन्न भाषावाले, नाना धर्मोवाले जन को यह पृथिवी अपनी-अपनी जगह पर धारण कर रही है, और सबके लिए दुधार गाय की भांति धन की सहस्रों धाराएं बहा रही है।" हमारे राष्ट्रीय जन को प्रकृति की ओर से ही 'बहुधापन' मिला है। पर मानवी मस्तिष्क ने उन भौतिक भेदों के भीतर पैठकर उनमें पिरोई हुई भावमयी एकता को ढूंढ निकाला।

राष्ट्र-संवर्धन के मार्ग में मनुष्य की यह विजय ही सच्ची विजय है। इसी-का हमारे नित्य जीवन के लिए वास्तविक मूल्य है। मौलिक एकता और समन्वय पर बल देनेवाले विचार अनेक रूपों में हमारे साहित्य और इतिहास में प्रकट होते रहे हैं। अथर्ववेद (६।१।१३) में कहा है—

पश्यन्त्यस्याश्चरितं पृथिव्यां
पृथङ्नरो बहुधा मीमांसमानाः।

अर्थात्—"विचारशील लोग इस विश्व का निर्माण करनेवाली प्राणधारा की बहुत प्रकार से अलग-अलग मीमांसा करते हैं। पर उनमें विरोध या विप्रतिपत्ति नहीं है, कारण कि वे सब मन्तव्य विचारों के विकल्प-मात्र हैं; मूलगत शक्ति या तत्त्व एक ही है।"

उत्तरकालीन दर्शन इसी भेद को समन्वय प्रदान करने के लिए अनेक प्रकार से प्रयत्न करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे भेद के विभ्रम से खिन्न होकर एकता की वाणी बार-बार प्रत्येक युग में ऊंचे स्वर से पुकार उठती है। अनेक देवताओं के जाल में जब बुद्धि को कर्तव्याकर्तव्य की थाह न लगी तो किसी तत्वदर्शी ने उस युग का समन्वय-प्रधान संगीत इस प्रकार प्रकट किया:

"आकाश से गिरा हुआ जल जैसे समुद्र की ओर बह जाता है, उसी प्रकार चाहे जिस देवता को प्रणाम करो, सबका पर्यवसान केशव की भक्ति में है।"

आकाशात्पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्।
सर्वदेव नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति॥

अवश्य ही केशव-पद निजी इष्ट देवों का समन्वय करनेवाले उसी एक महान् देव के लिए है, जिसके लिए प्रारम्भ में ही कहा गया था—**एकमेवाद्वितीयम्**। वह एक ही है, दूसरा, तीसरा, चौथा अथवा पांचवां नहीं है। वही आत्मा वह 'सुपर्ण' या पक्षी है जिसे विद्वान् (विप्र) कवियों ने नाना नामों में कहा है।

सुपर्णं विप्रा कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।

शैव और वैष्णवों के पारस्परिक बवंडरों ने इतिहास को काफी क्षुब्ध

किया; परन्तु उस मन्थन के बीच में भी युग की वाणी ने प्रकट होकर पुकारा :

एकात्मने नमस्तुभ्यं हरये च हराय च

अथवा कालिदास के शब्दों में :

एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा सामान्य मेषां प्रथमावरत्वम्
(कुमार० ७।४४)

"वस्तुतः ब्रह्मा, विष्णु और शिव एक ही मूर्ति के तीन रूप होगये हैं। इन सबमें छोटे-बड़े की कल्पना निस्सार है।"

परन्तु समन्वय की यह प्रवृत्ति हिन्दूधर्म के सम्प्रदायों तक ही सीमित नहीं रही। बौद्ध और जैन धर्मों के प्रांगण में भी इस भाव ने अपना पूरा प्रभाव फैलाया। सर्वप्रथम महाकवि कालिदास ने ही युगवाणी के रूप में यह घोषणा की—

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः ।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ।। (रघु० १०।२६)

"जैसे गंगाजी के सभी प्रवाह समुद्र में जा मिलते हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न शास्त्रों में कहे हुए सिद्धि प्राप्त करानेवाले मार्ग आपमें ही जा पहुंचते हैं।"

भिन्न-भिन्न आगमों के प्रति समन्वय और सहिष्णुता का भाव वही संस्कृत-युग अथवा विक्रम की प्रथम सहस्राब्दी का सबसे महान् रचनात्मक भाव है, जिसने राष्ट्रीय संस्कृति के वैचित्र्य को एकता के सांचे में ढाला। जैन-दर्शन के परम उद्भट ऋषि श्री सिद्धसेन दिवाकर ने अपने 'स्यादवादद्वात्रिंशिका (बत्तीसी) नामक ग्रन्थ में उपनिषदों के सरस ज्ञान के प्रति भरपूर आस्था प्रकट की है। विक्रम की अष्टम शताब्दी के दिग्गज विद्वान् श्री हरिभद्र सूरि ने, जिनके पांडित्य का लोहा आजतक माना जाता है, स्पष्ट और निश्चित शब्दों में अपने निष्पक्षपात और ऋजुभाव को व्यक्त किया है :

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्ति मद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ।।

"महावीर की वाणी के प्रति मेरा पक्षपात नहीं और न कपिल आदि दार्शनिक ऋषियों के प्रति मेरे मन में वैर-भाव है। मेरा तो यही कहना है कि जिसका वचन युक्तियुक्त हो उसे ही स्वीकार करो।"

परन्तु इस भाव का सबसे ऊंचा शिखर तो श्री हेमचन्द्राचार्य में मिलता है। हेमचन्द्र मध्यकालीन साहित्यिक संस्कृति के चमकते हुए हीरे हैं। विक्रम की बारहवीं शताब्दी में जैसी तेज़ आंख उनको प्राप्त हुई, वैसी अन्य किसी की नहीं। वस्तुतः वे हिन्दी-युग के आदि आचार्य हैं। उनकी 'देशी नाममाला' संस्कृत और प्राकृत के अतिरिक्त ठेठ देशी भाषा या हिन्दी के शब्दों का विलक्षण संग्रह-ग्रन्थ है। यह बड़े हर्ष और सौभाग्य की बात है कि हेमचन्द्र इस प्रकार का एक देशी शब्द-संग्रह हमारे लिए तैयार कर गये। हिन्दी के पूर्व-युग अथवा भाषाओं के सन्धि-काल में रचे जाने के कारण उसका महत्व अधिक है। विचार के क्षेत्र में भी एक प्रकार से हेमचन्द्र आगे आनेवाले युग के ऋषि थे। हेमचन्द्र की समन्वय बुद्धि में हिन्दी के आठसौ वर्षों का रहस्य ढूंढ़ा जा सकता है। प्रसिद्ध है कि महाराज कुमारपाल के साथ जिस समय हेमचन्द्र सोमनाथ के मन्दिर में गये, उनके मुख से यह अमर उद्‌गार निकल पड़ा:

भवबीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

"संसाररूपी बीज के अंकुर को हरा करनेवाले जिसके राग-द्वेष विकार मिट चुके हैं, मेरा प्रणाम उसके लिए है, फिर वह ब्रह्मा, विष्णु, शिव या तीर्थंकर इनमें से कोई क्यों न हो।" इस प्रकार की उदात्त वाणी धन्य है। जिन हृदयों में इस प्रकार की उदारता प्रकट हो वे धन्य हैं। इस प्रकार की भावना ही राष्ट्र के लिए अमृत दरसाती है।

: ७ :

पंडिताः समदर्शिनः

गांधीजी ने थोड़े-से समय में भारतवर्ष की छुआ-छूत-समस्या का जो हल ढूंढ़ निकाला, उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि है। इस देश की समाज-व्यवस्था में निस्सन्देह अनेक प्रकार के भेद हैं। उनमें जातिभेद, भाषाभेद, धर्मभेद—ये तीन प्रकार के भेद मुख्य हैं; परन्तु इन सब भेदों से ऊपर उठकर भारत की दार्शनिक विचार-धारा ने प्राणिमात्र में रमे हुए एकत्व पर बहुत बल दिया है। आत्मा को ही सबकुछ मानकर शरीर का निराकरण करनेवाले दर्शन का यही फल हो सकता है। ईश्वर एक है, वह सर्वत्र, सर्व-व्यापक है, घट-घट में रम रहा है, सबके हृदयों में बैठा हुआ है—इस प्रकार की प्रतीति भारतीय संस्कृति की आत्मा है। प्रत्येक दर्शन ने विचारों की भूलभुलैयों में से अपना मार्ग ढूंढ़ते हुए अन्तिम टेक आत्मा की इसी एकता और सर्व-व्यापकता पर प्राप्त की। भारत की राष्ट्रीय दार्शनिक आंख वेदान्त दर्शन है और उस आंख का सारा तेज इसी बात पर अवलम्बित है कि आत्मा चैतन्य-मय है, वह अन्नमय शरीर से पृथक् सब प्राणियों में एक है, वही अन्तिम मूल्यवान् तत्त्व है। शैव, वैष्णव, आस्तिक, भागवत, भक्त, ज्ञानी, योगी सबका आत्मा के विषय में ऊपर लिखा विचार ही है। यह सारा जगत् ईश्वर का वास-स्थान है। ईश्वर सबका अध्यक्ष है। वही आत्मरूप में सब-के भीतर है। इस प्रकार की प्रतीति मनुष्य को प्रेम की डोरी में बांधती है। यह विश्वास सच्चा हो तो इसपर जीवन में अमल होना चाहिए। आत्मा की एकता बात की कहने-सुनने के लिए ही रही तो वह व्यर्थ है।

यहांपर आकर भारतीय जीवन की गाड़ी दलदल में फंस गई। ऊंचे ज्ञान के क्षेत्र में जिस बात को सत्य समझा और माना गया, उसे व्यवहार में लाते हुए सौ झंझट खड़े किये गए। अमली जीवन में ऊंच-नीच छुआछूत की मोटी दीवारें खड़ी होगई और ये भेद इतने तीखे थे कि आज का नागरिक उन्हें सोचकर सिहर उठता है। फिर भी विश्वात्मा को

माननेवाली जो प्रतीति थी, वह समय-समय पर प्रकट होती ही रही और कभी-कभी तो वह मशाल के रूप में समाज का मार्ग-प्रदर्शन करने में समर्थ हुई। कृष्ण इस देश के अच्छे विचारकों में गिने जाते हैं, जो बिना लगालिपटी के सच्ची-सीधी बात कह सकते थे। उन्होंने अपनी मिसाल से समाज के हरएक अंग के साथ मेल-जोल का मार्ग अपनाया था। ग्वाले और अहीरों के साथ वे खूब खुलकर खेले थे। स्वयं गायों को दुहने और पालने का काम किया, रथ हांककर सारथी बने और यज्ञ में अतिथियों के पैर धोने के काम को अपने लिए पसन्द करके शारीरिक श्रम की महिमा बताई। गीता में उन्होंने ब्राह्मण और शूद्र के थोथे भेदों का तिरस्कार करनेवाला यह विचार प्रकट किया : जो समझदार है, वह समदर्शी होता है, यह विद्वान् ब्राह्मण है, यह श्वपचशूद्र है, यह पशु है—इस प्रकार की भेद-बुद्धि उसमें नहीं होती। गीता का यह सूत्र :

पंडिताः समदर्शिनः

संक्षेप में, भारतीय समझदारी ज्ञान या विवेक को बतानेवाला सूत्र है। किसी भी पंथ या मतवादी की हिम्मत इस बात को काटकर नई बात कहने की नहीं हुई, आचार में चाहे इसके जितना बच निकलने की कोशिश होती रही हो। व्यासजी ने भारतीय ज्ञान को बहुत ही गाढ़े समय में संतुलित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने धर्म की बुद्धिमूलक व्याख्या की :

"धारणाद् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयति प्रजाः।"

जो धारण करनेवाला तत्त्व है, वह धर्म है। धर्म समाज को, प्रजाओं को धारण करता है। धारण करने का अभिप्राय यह है कि समाज के आचार और नीतिधर्म को गिरने नहीं देता। परलोक या देवी-देवताओं के विश्वास या पूजा को व्यासजी ने धर्म नहीं कहा। मान्यताओं के पचड़े भी धर्म नहीं हैं। व्यास ने धर्म के अर्थ को बहुत-कुछ बुद्धिमूलक प्रत्यक्षगम्य बनाना चाहा। महाभारत के अन्त में अपनी भुजा उठाकर व्यास ने यही सारांश बताया कि धर्म ही अर्थ और काम की जड़ है, धर्म ही नित्य है, उसीका आश्रय लेना चाहिए। व्यासजी की वह उठी हुई भुजा आज तक उसी प्रकार धर्म की ओर संकेत कर रही है जिस प्रकार चुम्बक की सुई उत्तरी ध्रुव की ओर

संकेत करती है। व्यास ने बुद्धिमूलक धर्म की व्याख्या करते हुए चातुर्वर्ण्य के भाव पर भी प्रकाश डाला। चार वर्णों में माने जानेवाले ऊंच-नीच के भेद और जन्म-जात बड़प्पन को उन्होंने अच्छा नहीं समझा। पहले तो गीता में ही गुण और कर्मों के अनुसार चार वर्णों में समाज के बंटवारे का प्रतिपादन किया गया है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः।

यहां किसी भी वर्ण को आगे-पीछे कहने या उनमें तारतम्य करने का भाव नहीं है, बल्कि चारों वर्णों के समाहार या मेल से जन्म लेनेवाली उस समाज-व्यवस्था का वर्णन है, जिसमें वर्णों के गुण और कर्म ही बंटवारे का हेतु बनते हैं। दूसरी बात यह है कि आचारप्रधान जीवन की ओर अन्य कितने ही स्थानों पर व्यास ने विशेष बल दिया है। नागराज और युधिष्ठिर का संवाद इस विषय में निश्चित प्रकाश डालता है। अजगर ने प्रश्न किया, "हे राजन्, ब्राह्मण कौन है ?"

युधिष्ठर ने उत्तर दिया, "हे नागराज, सत्य, दान, क्षमा, शील, सहृदयता, तप, दया (घृणा का अभाव) जिसमें दिखाई पड़े, वही ब्राह्मण है।"

नागराज को इससे सन्तोष नहीं हुआ। उसने युधिष्ठिर की संशयरहित सम्मति जानने के लिए प्रश्न का मुंह फिर खोला।

उसने कहा, "हे युधिष्ठिर, लोक में चातुर्वर्ण्य का प्रमाण माना जाता है। यदि किसी शूद्र में आपके कहे हुए सत्य, दान, क्रोध, सहृदयता, अहिंसा, दया आदि गुण हों तो क्या वह ब्राह्मण हो जायगा ?"

युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "शूद्र में यदि आचार के ये लक्षण हों तो वह शूद्र नहीं रहा। ब्राह्मण में यदि ये लक्षण न हों तो वह ब्राह्मण नहीं। हे नागराज, जिसमें चरित्र (वृत्त) है, वही ब्राह्मण है। जिसमें चरित्र नहीं है, वही शूद्र है।"

नागराज ने तर्क में धर्मराज को पुनः चांपते हुए कहा, "यदि तुम्हारे मत से चरित्र से ही ब्राह्मण होता है, तब तो बिना चरित्र या कर्म के जाति व्यर्थ हो जाती है।"

प्रश्न मामूली नहीं है। यह जाति-पांति के वृक्ष पर सदा-सदा उठनेवाला बड़ा कुल्हाड़ा है। इस कंटीले प्रश्न से भी युधिष्ठिर ठिठके नहीं। उन्होंने उसी धीरता और साहस से उत्तर दिया, "हे नागराज, यहां जाति-पांति है ही कहां ? कौन-सी वह जाति है जिसमें वर्ण का संकर नहीं हुआ ? वर्णों की आपसी मिलावट के कारण मेरी सम्मति में जाति की ठीक पहचान की बात उठाना बेकार है। इसलिए जो तत्त्वदर्शी हैं, उनके मत में शील ही मुख्य है। जन्म के बाद वर्णों के जात कर्म आदि संस्कार भी यदि किये जायं, पर अगर किसीमें चरित्र नहीं हुआ, तो मैं तो उसे वर्णसंकर की हालत में पड़ा ही समझूंगा। इसीलिए हे नागराज, मैंने पहले ही यह कहा कि जिस व्यक्ति में निखरा हुआ चरित्र (संस्कृत वृत्त) है, वही ब्राह्मण है।"

(वनपर्व, अजगर पर्व, अ० १८० । श्लोक २०—३७)[1]

भारत की विश्वात्मा को प्रकट करनेवाले ये शब्द व्यास की नूतन धर्म-व्याख्या के अन्तर्गत थे। भगवान् बुद्ध और महावीर ने अपने जीवन और उपदेश से इस सत्य का प्रचार किया और विश्वकोटि भारतीय जनता

---

[1]सत्यं दानं क्षमाशील मानृशंस्यं तपो घृणा ।
दृश्यंते यत्र नागेन्द्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥२१॥
शूद्रेष्वपि च सत्यं च दानमक्रोध एव च ।
आनृशंस्यमहिंसाच घृणा चैव युधिष्ठिर ॥२३॥
शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते ।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥२५॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः ।
यत्रैतन्न भवेत्सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ॥२६॥
यदि ते वृत्ततो राजन् ब्राह्मणः प्रसमीक्षितः ।
वृथा जातिस्तदाऽऽयुष्मन्कृतिर्यावन्न विद्यते ॥३०॥
जातिरत्र महासर्प मनुष्यत्वे महामते ।
संकरात्सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्येति मे मतिः ॥३१॥
यत्रेदानीं महासर्प संस्कृतं वृत्तमिष्यते ।
तं ब्राह्मणमहं पूर्वमुक्तवान् भुजगोत्तम ॥३७॥

ने उसका समर्थन किया और उसे जीवन में ग्रहण किया। परन्तु यह राष्ट्रीय कोढ़ निर्मूल नहीं हुआ।

अष्टम शताब्दी में भगवान् शंकराचार्य ने वेदान्त-ज्ञान को राष्ट्र का दार्शनिक दृष्टिकोण ही बना दिया। सब भूतों में आत्मतत्त्व की एकता की पहचान ही वेदान्त का फल है। शंकर के शारीरिक भाष्य में अपशूद्राधिकरण नामक जो प्रकरण है, वह उनके लिए क्षम्य नहीं कहा जा सकता। लेकिन मलाबार से छुआछूत के गहरे संस्कार लिये हुए जब वह उत्तरापथ में आये तब उनके जीवन में एक धक्का लगा। उत्तरापथ के ज्ञान की अधिष्ठात्री काशीपुरी है। शंकर उसी काशीपुरी में आये और सामने से आते हुए मेहतर-मेहतरानी को देखकर 'हटो-बचो' करने लगे। उनका वेदान्तज्ञान भूल गया। यह बात काशी के ज्ञानाधिदेवता शिव बर्दाश्त नहीं कर सके। उसी चांडाल के मुंह से उन्होंने शंकर को डपटा:

"हे श्रेष्ठ ब्राह्मण, अपने मिट्टी के शरीर से मेरे इस मिट्टी के शरीर को हटाना चाहते हो या अपने आत्मा को मेरे आत्मा से दूर करना चाहते हो? किस नीयत से 'हटो-बचो' करते हो?[1]

"ज्ञात होता है, तुम्हारा शरीर तो गंगाजल है, उसमें जो सूर्य की परछाईं पड़ रही है, वह मुझ चांडाल की मड़ैया की जल में पड़नेवाली परछाईं से अवश्य भिन्न है।

"तुम्हारे पास सोने का घट है, मेरे पास केवल मिट्टी की हांडी है। मालूम होता है, दोनों में दो भिन्न तरह के आकाश हैं।

"घट-घट में बसनेवाला जो आत्मरूप सहजानन्द ज्ञान का समुद्र है, उसमें भी तुम्हारा ब्राह्मण-चांडाल का भेद-भ्रम अभी तक नहीं मिटा?

"मैं कौन हूं, जानते हो? जागते-सोते इस देह में से जिस निर्मल चैतन्य की किरणें फूटती रहती हैं, ब्रह्मा से लेकर रेंगनेवाली चींटी तक के शरीर में रमता हुआ जो इस जगत् की साखी भरता है, वही मैं हूं।

---

[1]**अन्नमयादन्नमयमथवा चैतन्यमेव चैतन्यात्।**
द्विजवर दूरी कर्तुमिच्छसि किं ब्रूहि गच्छ गच्छेति॥ मनीषापंचक॥

"इस प्रकार की स्थिर बुद्धि यदि है तो गुरु बन, चांडाल अथवा ब्राह्मण भेद-बुद्धि छोड़।"

शंकर के बाद आनेवाले सिद्धों ने भेद-भ्रम-नाशक परम्परा पर बहुत जोर दिया। मुनि रामसिंह के पाहुड़ दोहे में छुआछूत के बाह्य आचार को आत्मा की दृष्टि से निरर्थक कहा गया है:

कासु समाहि करहुं को अंचउं।
छोपु अछोपु भणिवि को बंचउं॥

"किसका ध्यान करूं, किसको पूजूं, किसको छूत और किसको अछूत मानूं?"

सहजयानी सिद्धों ने (८वीं शती-१२वीं शती) भी इसी विचारधारा को पुष्ट किया। सरोरुहपाद कहते है, "ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से पैदा हुए थे, जब हुए थे, तब हुए थे। इस समय तो सबकी उत्पत्ति एक-सी है। यदि कहो संस्कार देकर, तो सबको ब्राह्मण क्यों नहीं हो जाने देते?" (श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, कबीर, पृ० १३३)। अनेक सिद्ध सन्त स्वयं शूद्र वर्ग में उत्पन्न होकर पूजा को प्राप्त हुए।

सिद्धों की परम्परा को नाथों ने १२वीं-१५वीं शती तक आगे बढ़ाया। गोरखनाथ आदि नाथों ने जाति की अपेक्षा आचार और चरित्र पर बहुत जोर दिया। समाज में भंगी या चूहड़ा वही है, जो जननेन्द्रिय और स्वाद-इन्द्रिय के विषय में लम्पट है:

यन्द्री का लड़बड़ा जिभ्या का फूहड़ा।
गोरष कहै ते पर्तषि चूहड़ा॥

पन्द्रहवीं शती में रामानन्द और कबीर ने हिन्दू-समाज की इस वाणी को जोर से दोहराया। उन्होंने ज्ञान और अनुभव को जात-पांत की हद-बंदी से ऊपर रखकर उस क्षेत्र की नागरिकता का अधिकार सबके लिए खोल दिया। फिर तो चैतन्य, रैदास, नानक, नामदेव आदि अनेक संतों ने इसे एक राजमार्ग ही बना दिया और उनके उपदेशों को हिन्दू-समाज ने बहुत-कुछ स्वीकार किया।

१९वीं शती में भारतवर्ष में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। सब

धर्मों से ऊपर राष्ट्रीयता धर्म का उदय होने लगा। धर्म के भीतर से अभी तक जो समाज-सुधार के आन्दोलन थे, अब वे राष्ट्रीयता की शक्ति और युक्तिमत्ता लेकर समाज के सामने आने लगे। स्वामी दयानन्द ने धर्म और राष्ट्रीयता, दोनों के भीतर से भारत की प्राचीन उदार वाणी की घोषणा की और हिन्दू-समाज से स्पष्ट शब्दों में कहा कि अछूतपन हिन्दूधर्म और समाज का कलंक है, यह मैल उसपर बाहर से चढ़ा है, उसकी निजी संस्कृति में इसके लिए कोई स्थान नहीं है। यह छुआछूत की जड़ पर प्रबल कुठाराघात हुआ और उसके शास्त्रीय अनुमोदन की जड़ें हिल गईं। शास्त्र-प्रमाण से अस्पृश्यता का समर्थन करनेवालों के हाथ से अखाड़ा जाता रहा और उनकी हिम्मत टूट गई। यह एक बड़ी क्रान्ति थी, जो नवीन होते हुए भी प्राचीनता की शक्ति से संचालित थी।

लेकिन वास्तविक सामाजिक आचार में अस्पृश्यता का गढ़ बना ही रह गया। इस क्षेत्र में महात्मा गांधी ने उसे उखाड़ा। उन्होंने कहा कि अस्पृश्यता स्वयंसिद्ध कलंक है और यह हिन्दू-समाज का कोढ़ है। जो कलंक या अन्याय है, उसे बुरा सिद्ध करने के लिए शास्त्र-प्रमाण की जरूरत नहीं। जो समाज का कोढ़ है, उसे हटाये बिना समाज स्वस्थ नहीं बन सकता। अस्पृश्यों पर दया करके अस्पृश्यता के रोग को हटाने का प्रश्न नहीं है। अछूतपन की बात मानकर हिन्दू-समाज ने जो पाप किया है, उसका प्रायश्चित्त करने के लिए स्वयं हिन्दुओं को इस कलंक को मिटाना आवश्यक है। यह एक बिलकुल नया दृष्टिकोण था। राष्ट्रीयता के आन्दोलन की सफलता ही इस बात पर निर्भर थी कि पहले छुआछूत को मिटा दिया जाय। गांधीजी का यह दृष्टिकोण इतना साफ था और इसके पीछे उनके जीवन का इतना बल था कि राष्ट्र को इसे समझते और अपनाते हुए बहुत दिक्कत नहीं हुई और लगभग पच्चीस वर्ष के समय में राष्ट्रीय धरातल पर पहुंचकर अस्पृश्यता को हटा दिया गया। इस समय जो छुआछूत बच गई है, वह परास्त और लज्जित है। वह मरी हुई लाश है। उसका प्राण निकल चुका है और अब समाज को इस शव को भी अपने भीतर से निकाल फेंकना है। जिस समय सन् १९२० में गांधीजी का यह आन्दोलन आरंभ हुआ था, ऐसा जान पड़ता था कि उत्तर भारत से तो यह कलंक सम्भवतः हट जायगा,

पर दक्षिण में गांधीजी की बात अनसुनी रह जायगी। पर गांधीजी ने जिस आन्दोलन के रथ-चक्र से अस्पृश्यता-निवारण को बांध दिया था, वह उत्तर दक्खिन, पूरब-पश्चिम में सर्वत्र एक जैसे वेग और शक्ति से फैला और अपनी विजय के साथ छुआछूत के गढ़ को धराशायी बनाता गया। स्वराज्य-प्राप्ति के लिए अस्पृश्यता को हटाने की बात गांधीजी की मौलिक देन थी। इस कलंक को मेटने के लिए धर्म या परलोक का सहारा न ढूंढ़ उन्होंने इसी पृथिवी के जीवन की आवश्यकता के साथ इसे मिला दिया।

गांधीजी की वाणी भारतीय विश्वात्मा की वाणी है। यह भारत के प्राचीन सर्वब्रह्ममय या ईशावास्य दृष्टिकोण की पूरी विजय कही जा सकती है। आज विचारों के धरातल पर भारत अस्पृश्यता के महापाप की दासता और कलक से मुक्त हो गया हैं। उसकी इस मुक्ति में एक बड़ा लाभ भी दिखलाई पड़ता है। भारत की स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में शुद्ध हो गई है, उसका दृष्टिकोण सदा के लिए निखर गया है। जहां काले-गोरे, ऊंच-नीच के भेदों में दूसरे राष्ट्र ठोकरें खा रहे हैं, वहां भारत उस समस्या को सदा के लिए सुलझाकर सबके लिए आदर्श बन गया है। आज सच्चे मन से 'पंडिताः समदर्शिनः' के चिरन्तन सत्य को दूसरों से कहा जा सकता है।

लेकिन किसी भी ईमानदार आदमी से यह बात छिपी नहीं रह सकती कि गांधीजी का काम अभी आधा ही हुआ है और आधा पड़ा है। छुआछूत का रावण तो मर गया, पर उसका शव अभी बीच में सड़ रहा है। उस गन्दगी को जीवन में से हटाये बिना हमारा कल्याण नहीं है। अपने प्रयत्नों को शिथिल करने या आराम की सांस लेने की अभी कोई बात नहीं है। छुआछूत के दानव का शव भी इतना बड़ा और इतना उलझा हुआ है कि उसे पूरी तरह निकालने के लिए बड़ा सतर्क प्रयत्न करना पड़ेगा। अभी हमारे जंगलों और गांव-बस्ती में अधिकारों से वंचित मानवों के ठट्ठ भरे हुए हैं। उन्हें सामाजिक, आर्थिक और बौद्धिक स्वराज्य की प्राप्ति जबतक नहीं होती तबतक हमारे लिए स्वयं इन वरदानों की प्राप्ति स्वप्न ही है। श्रम पवित्र है, उपयोगी है और आवश्यक है। ये तीन बड़े नियम अर्वाचीन जगत् ने श्रम के विषय में ढूंढ़ निकाले है। इनको पहले हमें अपने जीवन

के लिए अपनाना है। यदि हम श्रम की इस त्रिमूर्ति से बचना चाहेंगे तो युग के लिए व्यर्थ हो जायंगे। आगे आनेवाली जीवन-पद्धति श्रम के इसी त्रिभुज पर आश्रित होगी। समाज का नया संगठन श्रम के आधार पर ही होगा। श्रम का नियम जहां लागू होगा, वहां छुआछूत का भेद नहीं रह सकता। श्रम की पवित्रता, उपयोगिता और आवश्यकता के दृष्टिकोण को स्वीकार करके ही गांधीजी ने स्वच्छता और सफाई के कामों को वही प्रतिष्ठा दी जो जीवन के अन्य आवश्यक कामों को हम देते हैं। जिस यज्ञ को गांधीजी ने शुरू किया था, वह अभी अधूरा है, यह जानकर ही हमें आगे का क्रम स्थिर करना होगा।

: ८ :

चरैवेति-चरैवेति

ऐतरेय ब्राह्मण के 'शनु शेप:' उपाख्यान में एक सुन्दर वैदिक गीत दिया हुआ है। इस गीत का अन्तरा है—"चरैवेति-चरैवेति", अर्थात चलते रहो, चलते रहो। इसकी कथा यों है : राजा हरिश्चन्द्र के कोई पुत्र नहीं था उसने पर्वत और नारद नामक ऋषियों से उपाय पूछा। उन्होंने कहा कि तुम वरुण की उपासना करो। वह वरुण के पास गया कि मुझे पुत्र दो। उससे तुम्हारा यजन करूंगा। वरुण ने कहा—तथास्तु। हरिश्चन्द्र के पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम रोहित रक्खा गया। वरुण ने कहा—तुम्हारे पुत्र हो गया, इसको मेरी भेंट करो। हरिश्चन्द्र ने कहा—अभी पशु है, दस दिन का भी नहीं हुआ। दस दिन का हो जाय, तब यज्ञीय होगा। वरुण ने कहा—अच्छा।

वह पुत्र दस दिन का हो गया। वरुण ने आकर कहा—दस दिन का हो चुका, अब यजन करो।

हरिश्चन्द्र ने कहा—अभी दांत भी नहीं निकले। जब दांत निकल आवेंगे, तब मेध्य होगा। दांत निकल आने दो, तब यजन कर दूंगा।

वरुण ने कहा—अच्छा।

उसके दांत निकल आये। तब वरुण फिर आ पहुंचा। बोला—अब तो दांत निकल आये, अब लाओ।

हरिश्चन्द्र ने कहा—अभी निरा पशु है। जब दूध के दांत गिर जायंगे, तब यज्ञीय होगा। दांत गिर जाने दो तब यजन करूंगा।

वरुण ने कहा—अच्छा।

उसके दूध के दांत भी गिर गये। वरुण ने फिर मांगा—अब तो दूध के भी दांत गिर गये, लाओ।

हरिश्चन्द्र ने कहा—जब नये दांत निकल आते हैं, तब मेध्य होता है। ज़रा नये दांत जम आने दो, फिर यजन करूंगा।

वरुण ने कहा—अच्छा।

उसके नये दांत भी जम आये। वरुण ने फिर टोका—नये दांत निकल आये, अब लाओ।

हरिश्चन्द्र ने कहा—यह क्षत्रिय का बालक है। क्षत्रिय-पुत्र जब कवच धारण करने लगता है, तब किसी काम के योग्य (मेध्य या यज्ञीय) होता है। बस कवच पहनने लगे तो तुम्हारे लिए इसका यजन कर दूं।

वरुण ने कहा—अच्छा।

वह कवच भी धारण करने लगा। तब वरुण ने हरिश्चन्द्र को छेका—अब तो कवच भी पहनने लगा, अब यजन करो।

हरिश्चन्द्र ने कहा—अच्छी बात है, कल आना। उसने रातों-रात पुत्र से सलाह की और उसे जंगल में भगा दिया। दूसरे दिन जब वरुण पहुंचा तो कह दिया—वह तो कहीं भाग गया।

अब वरुण के उग्र नियमों ने हरिश्चन्द्र को पकड़ा। उसके जलोदर हो गया। रोहित ने जंगल में पिता के कष्ट का समाचार सुना। वह वहां से बस्ती की ओर लौटा। तब इन्द्र पुरुष का वेश बनाकर उसके सामने आया और निम्नलिखित गीत का एक-एक श्लोक एक-एक वर्ष बाद उसे सुनाता रहा। इस प्रकार पांच वर्षों में यह संचरण गीत पूरा हुआ और पांच वर्षों तक रोहित अरण्य में घूमता रहा।

गीत इस प्रकार है :

(१)

चरैवेति-चरैवेति

नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति इति रोहित शुश्रुम ।
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा ॥

चरैवेति-चरैवेति

हे रोहित, सुनते हैं कि श्रम से जो नहीं थका, ऐसे पुरुष को लक्ष्मी नहीं मिलती। बैठे हुए आदमी को पाप धर दबाता है। इन्द्र उसीका मित्र है, जो बराबर चलता रहता है। इसलिए चलते रहो।

(२)

पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः ।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः ॥

चरैवेति-चरैवेति ।

जो पुरुष चलता रहता है, उसकी जांघों में फूल फूलते हैं, उसकी आत्मा भूषित होकर फल प्राप्त करती है। चलनेवाले के पाप थककर सोये रहते हैं। इसलिए चलते रहो, चलते रहो।

(३)

आस्ते भग आसीनस्य उर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः ।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः ॥

चरैवेति-चरैवेति ।

बैठे हुए का सौभाग्य बैठा रहता है, खड़े होनेवाले का सौभाग्य खड़ा हो जाता है, पड़े रहनेवाले का सौभाग्य सोता रहता है और उठकर चलने वाले का सौभाग्य चल पड़ता है। इसलिए चलते रहो, चलते रहो।

(४)

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् ॥

चरैवेति-चरैवेति ।

सोनेवाले का नाम कलि है, अंगड़ाई लेनेवाला द्वापर है, उठकर खड़ा होनेवाला त्रेता है और चलनेवाला सतयुगी है। इसलिए चलते रहो, चलते रहो।

(५)

चरन्व मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदुम्बरम् ।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन् ।...

चरैवेति-चरैवेति ।

चलता हुआ मनुष्य ही मधु पाता है, चलता हुआ ही स्वादिष्ट फल चखता है। सूर्य का परिश्रम देखो, जो नित्य चलता हुआ कभी आलस्य नहीं करना। इसलिए चलते रहो. चलते रहो।

इस सुन्दर गीत में इन्द्र ने रोहित को सदा चलते रहने की शिक्षा दी है। इन्द्र को यह शिक्षा किसी ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण से मिली थी। गीत का वास्तविक अभिप्राय आध्यात्मिक है। चलते रहो, चलते रहो, क्योंकि चलने का नाम ही जीवन है। ठहरा हुआ पानी सड़ जाता है, बैठा हुआ मनुष्य पापी होता हैं। बहते हुए पानी में जिन्दगी रहती है, वही वायु और सूर्य के प्राण-भंडार में से प्राण को अपनाता है। पड़ाव डालने का नाम जिन्दगी नहीं है। जीवन के रास्ते में थककर सो जाना, या आलसी बनकर बसेरा ले लेना मूर्च्छा है। जागने का नाम जीवन है। जाग्रति ही गति है। निद्रा मृत्यु है। अध्यात्म के मार्ग में बराबर आगे कदम बढ़ाते रहो, सदा कानों में "चलते रहो, चलते रहो" की ही ध्वनि गूंजती रहे। वह देखो, अनन्त आकाश को पार करता हुआ और अपरिमित लोकों का भ्रमण करता हुआ सूर्य प्रातःकाल आकर हममें से प्रत्येक के जीवन-द्वार पर यही अलख जगाता है—"चलते रहो, चलते रहो"।

इन्द्र तो चलनेवालों का ही सखा है—(इन्द्र इच्चरतः सखा)। आत्मा उनका ही स्वयंवर करती है, जो मार्ग में चल रहे हैं। एक के बाद दूसरा पद शीघ्र उठाते हुए अध्यात्म के अनन्त पथ को चीरते चले जाते हैं। उपनिषदों में कहा भी है :

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः ।

अथवा—

न च प्रमादात् तपसो वाप्यलिङ्गात् ।

जिसके संकल्प मजबूत नहीं हैं, जो प्रमादी और मिथ्याचारी है, उसे

आत्मदर्शन नहीं हो सकता। ईश्वर उनकी सहायता करता है, जो स्वयं अपनी सहायता करते हैं। कमर कसकर खड़े हो जानेवालों का ही इन्द्र मित्र है। जो वेग से रास्ते को पार करते चले जाते हैं, जो पैर उठाकर पश्चात्-पद होना नहीं जानते, जो सोते-जागते सदा जागरूक बने हुए हैं, वे ही सच्चे पथिक हैं। उन्होंने संसार के आतिथ्य-धर्म को ठीक समझ लिया है। आत्मा इस देह में एक अतिथि है। **'अतति सन्तत् गच्छति इति अतिथि:'** 'अत सातत्य गमने' धातु से 'इथन्' प्रत्यय लगाकर अतिथि बनता है। **'अतति सन्तत् गच्छति इति आत्मा'**, उसी "अत सातत्य गमने" धातु से मनिन् प्रत्यय लगाकर आत्मा बनता है। यही सूत्र सदा स्मरणीय है।

आत्मा देह में मेहमान है। आत्मा ही क्षेत्रपति शंभु है। इस शरीर की संज्ञा क्षेत्र है। आत्मा क्षेत्रज्ञ या क्षेत्रपति है। हम नित्य के शान्ति-पाठ में कहते हैं :

शन्न: क्षेत्रस्य पतिरस्तु शंभु: ।

हमारे क्षेत्रपति आत्मा का अहरह: कल्याण हो, वह 'सन्तत् स्वस्ति-मान् हो।' इसी आत्माग्नि को संबोधन करके कहा जाता है :

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् ।

समिधाओं से इस अग्नि की उपासना करो और घृत की धाराओं से उस अतिथि को जगाओ। ब्रह्मचर्य-काल या आयु का वसन्त-काल घृत की धाराएं हैं, इसी समय रसों का परिपाक होता है। यौवन या ग्रीष्म ही समिधाएं या ईधन हैं। कहा भी है।

वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्म: शरद्धवि: ।

अतिथि आत्मा का हित चलते रहने में है। घर बनाकर डेरा डालना उसके स्वभाव के प्रतिकूल है। भोग और विषय दुर्गन्ध से भरे हुए हैं। उनके मध्य में तृप्ति मान लेनेवाले को असली माधुर्य का पता ही नहीं लगा। सब विद्याओं से बड़ी मधु विद्या है। आत्मज्ञान या अध्यात्म विद्या का ही नाम मधु है, जिसे इन्द्र ने दध्यङ् अथर्वा को सिखाया था। यही परम मधु है। इस रस के बराबर और किसी रस में मिठास नहीं है। आत्मा रस-स्वरूप ही है :

रसौ वै सः

एक बार जो इस मधु का स्वाद पा जाते हैं, वे पुनः दूसरे माधुर्य की चाहना नहीं करते। यह मधु चलते रहने से ही मिल सकता है :

चरन्वै मधु विन्दति।

अध्यात्म-मार्ग के दृढ़ पथिक ही इस मधु को चखते हैं, वे ही ऐसे सुपर्ण हैं, जो संसाररूपी अश्वत्थ वृक्ष के स्वादु या मधुर फल के खाने योग्य (मघ्वद) होते हैं।

: ६ :

महर्षि व्यास

व्यास भारतीय ज्ञानगंगा के भगीरथ हैं। जिस प्रकार इस देवनिर्मित देश को किसी पुरायुग में भगीरथ ने अपने उग्र तप से गंगावतरण द्वारा पवित्र किया था, उसी प्रकार पुराण मुनि वेद व्यास ने भारतीय लोक-साहित्य के आदि-युग में हिमालय के बदरिकाश्रम में अखंड समाधि लगाकर अध्यात्म, धर्मनीति और पुराण की त्रिपथ गंगा का पहले अपनी आत्मा में साक्षात्कार किया और फिर साहित्यिक साधना द्वारा देश के आर्य वाङ्मय को उससे पवित्र बनाया। ज्ञानरूपी हिमवान् के उच्च शिखरों पर बहनेवाले दिव्य जलों को मानों वेद व्यास भूतल पर ले आये। उन्होंने लोक-साहित्य को वेग की प्रेरणा दी। उनके द्वारा पूर्वजों के ज्ञान और चरित्रों से गुम्फित सरस्वती लोक के कंठ में आ विराजी।

जिस प्रकार भारतवर्ष की प्राकृतिक सम्पदा का अपरिमित विस्तार है, उसी प्रकार कालक्रम से वेद व्यास की साहित्यिक सृष्टि भी लोक के देशव्यापी जीवन में अनन्त बनकर समा गई है। एक प्रकार से सारे राष्ट्र का जीवन ही आज व्यासरूपी महान् वटवृक्ष की छाया के आश्रय में आ गया है। व्यास भारतवर्षीय ज्ञान के सर्वोत्तम प्रतिनिधि बन गये हैं। यदि भारतीय ज्ञान की उपमा एक ऐसे रत्न से दी जाय जिसकी चमक के

सहस्रों पहलू हों तो व्यास की शत-साहस्री संहिता पूरी तरह से उस माहर्घ मणि का स्थान ले सकती है। जैसे भगवान् समुद्र और हिमवान् गिरि दोनों रत्नों की खान हैं, वैसे ही भारत भी रत्नों से संपूर्ण है।[1] व्यास की प्रतिभा की स्तुति में इससे अधिक और क्या कहा जा सकता था :

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्॥ (आदिपर्व ५६।३३)

अर्थात्, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक जीवन के चार पुरुषार्थों से सम्बन्ध रखनेवाला जो कुछ ज्ञान महाभारत में है, वही दूसरी जगह है, जो यहां नहीं है, वह कहीं और भी न मिलेगा।

पुराविदों के प्रयत्न करने पर भी व्यास हमारे ऐतिहासिक तिथिक्रम के शिकंजे में पूरी तरह नहीं बांधे जा सके। विक्रम से तीस शताब्दी पूर्व से लेकर पन्द्रह शताब्दी पूर्व तक के किसी युग में हमारे व्यास का उदय हुआ। पुराणों के अनुसार ब्रह्मा से लेकर कृष्ण द्वैपायन तक अट्ठाईस व्यासों की परम्परा मिलती है। ये मुख्यतः पुराणों के प्रवचनकर्ता रहे होंगे। पर जबतक सब पुराणों के सुसमीक्षित संस्करण तैयार न हो जायं तबतक इस अनुश्रुति का पूरा मूल्य नहीं आंका जा सकता। हां, जय नामक उत्तम इतिहास के रचनेवाले अमितौजा महामुनि व्यास, जिनका नाम अट्ठाईस व्यासों के अन्त में आता है, अवश्य ही हमारे चिरपरिचित वे पुराण मुनि हैं जो कुरु-पांडव-युग में इस पृथिवी पर बदरिकाश्रम और हस्तिनापुर के बीच में आते-जाते थे। हिमालय के रम्य शिखर पर जहां नर नारायण नामक दो पर्वत हैं, वहां भागीरथी के समीप विशाला बदरी नामक स्थान में व्यास ने अपना आश्रम बनाया था। आज भी बदरीनारायण के इस प्रदेश के दर्शन के लिए प्रति

---

[1]यथा समुद्रो भगवान्यथा च हिमवान् गिरिः।
ख्यातावुभौ रत्ननिधी तथा भारतमुच्यते॥
(आदिपर्व ५६।२७, सुकथनकर संस्करण)

वर्ष सहस्रों यात्री जाते हैं। विशाला बदरी के समीप ही आकाशगंगा है, जहां व्यास का चंक्रमण (घूमने) का स्थान था। यह स्थान हरिद्वार से लगभग एक मास की पैदल यात्रा के बाद आता था। उसी हिमवत् पृष्ठ पर व्यास का आश्रम था, जिसके कण-कण में दिव्य तप की भावना ओत-प्रोत थी। वहां व्यास ने चार प्रमुख शिष्यों को वैदिक संहिताओं का अध्ययन कराया। पैल ने ऋग्वेद, वैशम्पायन ने यजुर्वेद, जैमिनि ने सामवेद और सुमन्तु ने अथर्ववेद की संहिताओं का पारायण किया। कहा जाता है कि व्यास ने स्वयं अत्यधिक परिश्रम से समस्त वैदिक मंत्रों का वर्गीकरण करके चार संहिताओं का विभाग किया, और इस साहित्यिक साधना के कारण ही उनका नाम वेदव्यास प्रसिद्ध हुआ। इसी आश्रम में कुरु पांडवों के युद्ध की समाप्ति पर व्यासजी ने तीन वर्ष के संतत उत्थान के बाद महाभारत नामक श्रेष्ठ काव्यात्मक इतिहास की रचना की।

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम् ॥ (आदिपर्व ५६।३२)

यह महाभारत पांचवां वेद कहलाता है और इसे व्यास ने अपने पांचवें शिष्य रोमहर्षण को पढ़ाया था। इसका एक नाम कार्ष्ण वेद भी है। वस्तुतः व्यास का जन्म का नाम कृष्ण था। महाभारत की राजनीति के युग में दो कृष्ण प्रसिद्ध हुए, एक वासुदेव कृष्ण और दूसरे द्वैपायन कृष्ण। यमुना नदी के एक द्वीप में जन्म होने के कारण ये द्वैपायन कहलाये। चेदि देश के राजा वसु उपरिचर से हस्तिनापुर के पास, जहां एक टापू था, सत्यवती का जन्म हुआ। जन्मकाल से ही यमुनातीर वासी दाशराज ने उसका पालन-पोषण किया था। सत्यवती नामक यह कन्या यमुना के पार नाव चलाती हुई प्रथम यौवन के समय योगी पराशर मुनि के संयोग से व्यास की माता बनी। इसी सत्यवती के साथ आगे चलकर राजा शान्तनु ने विवाह किया। व्यास की माता सत्यवती गंगापुत्र भीष्म की सौतेली मां थी, अतएव व्यास और पितामह भीष्म का सम्बन्ध अत्यन्त निकट का था। सत्यवती के पुत्र विचित्रवीर्य निस्सन्तान ही मृत्यु को प्राप्त हुए। उनके बाद जब कुरुकुल अनपत्यता के कारण डूबने लगा, तब अपनी माता सत्यवती के कहने को

मानकर व्यास ने विचित्रवीर्य की स्त्रियों से धृतराष्ट्र और पांडु नामक दो पुत्रों को उत्पन्न किया। इसी अवसर पर एक दासी के गर्भ से विदुर उत्पन्न हुए। आम्बिकेय धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि कौरव और कौशल्यानंदन पांडु के पुत्र युधिष्ठिरादि पंच पांडव हुए। व्यासजी ही इस वंश के बीज वपन करनेवाले थे। अतएव उन्होंने जन्म-पर्यन्त हस्तिनापुर के पास सरस्वती नदी के किनारे एक आश्रम बना लिया था। वहां से वह हस्तिनापुर आते रहते थे। जिस समय पांडु की मृत्यु के बाद पांडव हस्तिनापुर आये और पांडु का दाहसंस्कार हुआ, उस समय व्यास वहां मौजूद थे। व्यास ने माता सत्यवती को सलाह दी कि अब तुम हस्तिनापुर छोड़कर वन में जाकर योग में चित्त लगाओ। कौरव-पांडवों की अस्त्र-परीक्षा के समय भी व्यास हस्तिनापुर में थे। उन्होंने वनवास के समय एकचक्रा नगरी में पांडवों से भेंट करके उन्हें द्रौपदी के स्वयंवर में सम्मिलित होने की सलाह दी। व्यासजी का अमोघ मंत्र गाढ़े वक्त में सदा पांडवों के साथ रहा। ब्याह के पश्चात् जब पांडवों को राज मिला तब भी राजसूय-यज्ञ की सूझ व्यासजी से ही उनको प्राप्त हुई। इस यज्ञ में आपसी डाह के ऐसे बानक बने जिनसे आगे युद्ध अवश्यम्भावी जंचने लगा। व्यासजी युधिष्ठिर को क्षत्रियों के भावी विनाश की सूचना देकर स्वयं कैलास पर्वत की यात्रा को चले गये।[1] इधर पांडवों ने जुए में हारकर फिर बन की राह ली। व्यासजी को जब यह समाचार मालूम हुआ तब उन्होंने आकर धृतराष्ट्र को समझाया कि पांडवों के साथ न्याय करें और स्वयं द्वैतवन में जाकर पांडवों से मिले। वहां उन्होंने युधिष्ठिर को प्रतिस्मृति नामक सिद्ध विद्या दी और उन्हें दूसरी जगह जाकर रहने की सम्मति दी। पांडव द्वैतवन को छोड़कर सरस्वती के किनारे काम्यकवन में रहने लगे। उनके वनवास के बारह वर्ष समाप्त हो रहे थे। व्यासजी फिर उनके पास पहुंचे और युधिष्ठिर को नीतिमार्ग और आत्म-संयम के धर्म का उपदेश देकर अपने आश्रम को चले गये। तेरहवें वर्ष के बाद जब युधिष्ठिर ने अपना राज्य वापस मांगा तब व्यास ने फिर धृतराष्ट्र

---

[1] **स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि कैलासं पर्वतं प्रति।**
अप्रमत्तः स्थितो दान्तः पृथिवीं परिपालय ॥ (सभापर्व ४६।१७)

को समझाया। परन्तु काल के सामने बूढ़े और अन्धे राजा धृतराष्ट्र तथा मनीषी वेदव्यास का एक भी उपाय सफल न हुआ। व्यास अपने ज्ञान-चक्षु से काल की महिमा जानते थे। काल की दुर्धर्ष सत्ता में विश्वास उनके दर्शन का अभिन्न अंग था, जिसे उन्होंने कई जगह महाभारत में प्रकट किया :

कालमूलमिदं सर्वं जगद्बीजं धनंजय।
काल एव समादत्ते पुनरेव यदृच्छया।
स एव बलवान् भूत्वा पुनर्भवति दुर्बलः ॥
(मौसल पर्व ८।३३,३४)

काल सबकी जड़ है, काल संसार के उत्थान का बीज है। काल ही अपने वश में करके उसे हड़प लेता है। कभी काल बली रहता है, कभी वही निर्बल हो जाता है। समन्तपंचक के सर्व क्षत्रियों का क्षय करनेवाले युद्ध को अपनी आंखों से देखकर वेदव्यास ने काल की महिमा के ध्यान से ही अपने चित को धैर्य दिया। जिस समय कुरुक्षेत्र में दोनों ओर से भारतीय सेनाएं आ डटीं तब भी व्यासजी ने धृतराष्ट्र को समझाकर युद्ध रोकना चाहा। पर उनकी एक न चली। युद्ध के दिनों में भी वह जब-तब अपने मंत्र से स्थिति को संभालते रहे और युद्ध के अन्त में शोकमना धृतराष्ट्र को और युधिष्ठिर को समझा-बुझाकर धैर्य बंधाया। युधिष्ठिर को राज्य के लिए तैयार करके नीति, धर्म और अध्यात्म की शिक्षा के लिए भीष्म के पास भेजा और अश्वमेध करने की प्रेरणा की। युद्ध के सोलह वर्ष बाद वह धृतराष्ट्र से फिर हिमालय में जाकर मिले और तप करने की सलाह देकर अपने आश्रम को चले गये। जब सरस्वती नदी के तीर पर बसनेवाले आभीरगणों (हरियाने के दस्युओं) ने वृष्णि वंश की स्त्रियों को अर्जुन के देखते-देखते लूट लिया, तब शोक और अपमान से भग्न हृदय अर्जुन अंतिम बार व्यास के दर्शन को गये। व्यास ने उन्हें कालचक्र के उत्थान और पतन का उपदेश देकर विदा किया। घटनाओं के झंझावात में भी क्षोभरहित स्थिति के प्रतीक वेद व्यास हैं।

व्यास को वेदान्त सूत्रों का कर्त्ता भी माना जाता है। वेदान्तसूत्रों का नाम भिक्षुसूत्र भी है। पाणिनि की अष्टाध्यायी से विदित होता है कि

भिक्षुसूत्र के रचयिता पाराशर्य थे। पराशर के पुत्र होने के कारण व्यास का ही एक नाम पाराशर्य था। बदरी-आश्रम में रहने के कारण व्यास का दूसरा नाम बादारायण मुनि भी था और इसी कारण कभी-कभी वेदान्त-सूत्रों को बादारायणसूत्र भी कहते हैं। पाणिनि के शास्त्र में जो ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है उसको प्रामाणिक मानते हुए यह विश्वास करने के लिए पर्याप्त हेतु है कि वेदान्त-सूत्रों की रचना वेद व्यास ने ही की हो। वेदान्तसूत्र उपनिषदों के अध्यात्मज्ञान का निचोड़ है। कहा जाता है कि वेदव्यास ने अपने पुत्र शुक को मोक्षशास्त्र का अध्ययन कराया। सम्भव है, बादरायणीय वेदान्त सूत्रों की रचना में वही हेतु रहा हो।

परन्तु जो ग्रन्थराज व्यास की कीर्ति का शुभ्र जयस्तम्भ है वह महाभारत है। महाभारत में व्यास ने अपनी अमित बुद्धि से अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र को सदा के लिए आर्य-जाति के विस्तृत ज्ञान और लौकिक जीवन का रूप खड़ा कर दिया है।

अर्थशास्त्रमिदं पुण्यं धर्मशास्त्रमिदं परम्।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामित बुद्धिना॥ (आदिपर्व ५६।२१)

महाभारत सच्चे अर्थों में प्राचीन भारतवर्ष का विश्वकोष है। संसार के साहित्य में महाभारत एक दिग्गज ग्रन्थ है। इसकी तुलना में यूनान के इलियड और ओडसी अथवा आइसलैंड और स्कैंडनेविया के प्राचीन एड्डा और सागा, जिनमें उत्तराखंड का बचा-खुचा गाथाशास्त्र सुरक्षित है, बहुत पीछे छूट जाते हैं। महाभारत जहां एक ओर प्राचीन नीति और धर्म का अक्षय भंडार है, वहीं दूसरी ओर इसमें भारतीय गाथाशास्त्र की भी अनन्त सामग्री है। महाभारत को वेदव्यास ने अतीत की घटनाओं के नीरस क्रोड़पत्र के रूप में नहीं रचा, अन्यथा वह अब से कहीं पहले अन्य देशों के भारी-भरकम ऐतिहासिक पोथों की तरह धूलि-धूसरित हो गया होता। महाभारत एक जीते-जागते चित्रपट के रूप में सदा हमारे सामने रहा है, जिसके अर्थ का व्याख्यान अनगिनत सूत अपने-अपने आसानी से करते रहे हैं। आज भी व्यास गद्दी का उत्तराधिकार भारत के अपने साहित्यिक जगत् में अक्षुण्ण बना हुआ है। आकाश में उड़नेवाले ज्ञान को पृथिवी के मानव की

पहुंच में किस तरह लाया जा सकता है, इस प्रश्न का समाधान भारत-वर्षीय व्यास गद्दी है। पश्चिम को यह शिकायत है कि उसका नया ज्ञान विशेषज्ञों के हाथ में पड़कर लोक से दूर जा पड़ा है। जीवन-मरण एवं सृष्टि और प्रलय के सम्बन्ध में जो विज्ञान के संशोधन हैं उनको जन-साधारण के जीवन में ढालने के साधन का विज्ञान के पास अभाव है। परन्तु भारतवर्ष में सार्वजनिक शिक्षा के चमत्कारी विधानों में व्यास गद्दी से कही जानेवाली कथाओं द्वारा विशेषज्ञ और लोक के बीच की खाई पर पुल बनाने का सफल प्रयास होता आया है। इसी कारण रामायण, महाभारत और पुराणों के महान् चरित्रों की अमर कथाएं देश के कोने-कोने में फैली हुई हैं। अपने पूर्व पुरुषाओं के चरित्रों को सुनने की जो हमारे मन में स्वाभाविक उमंग है, वही हमारा सबसे उत्कट इतिहास-प्रेम है। जनमेजय के शब्दों में हम कह सकते हैं—

नहि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत्। (आदि० ५६।३)

पूर्वपुरुषों के महान् चरित्र को सुनते-सुनते मैं कभी तृप्त नहीं होता। उस स्वाभाविक कौतुक को तृप्त करने का राष्ट्रीय साधन महाभारत ग्रन्थ था। पराक्रमी द्रोण, भीष्म, अर्जुन, भीम, कर्ण और दुर्योधन के महावीर्य भुजदंडों की शक्ति के जिस ओज को वेदव्यास ने अपने श्लोकों में भरा है, उससे अब भी हमारा वीर हृदय उछलने लगता है।

भारत-महाभारत

महाभारत को शतसाहस्री संहिता कहा गया है। हरिवंश को मिलाकर महाभारत के १८ पर्वों में एक लाख श्लोक होने का अनुमान किया जाता है। पर यह निश्चय है कि वेदव्यास के समय में इस ग्रन्थ का यह बृहत रूप न था। पाणिनि की अष्टाध्यायी के एक सूत्र (६।२।३८) में भारत-महाभारत नाम आते हैं। उससे पहले आश्वलायन गृह्यसूत्र में भारत और महाभारत दोनों का ही एक वाक्य में अलग-अलग उल्लेख है। वास्तविक कुरु-पांडवों का वीर गाथा ग्रंथ भारत ही था, जिसमें चौबीस हजार श्लोक थे और इस कारण जिसका नाम 'चतुर्विंशति साहस्री भारत संहिता' प्रसिद्ध था। इसकी अन्तःसाक्षी स्वयं महाभारत में मौजूद है।

चतुर्विंशति साहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम् ।
उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः ।। (आदि० १।६१)

व्यास का मूल भारत बिना उपाख्यानों के था, पर वर्तमान ग्रन्थ में सैकड़ों उपाख्यान यथास्थान पिरो दिये गए हैं। व्यास ने तीन वर्ष के संतत परिश्रम (उत्थान) से २४००० श्लोकों में भरतवंश के इतिहास और युद्ध का मूल काव्य रचा था। उनको रोमहर्षण सूत ने यथावत् पढ़ा। पुनः व्यास-शिष्य वैशम्पायन ने जनमेजय के यज्ञ में उसका पारायण किया। इस समय तक ग्रन्थ का रूप शुद्ध बना रहा। महाभारत का तीसरा संस्करण भार्गव-वंशी कुलपति शौनक के बारह वर्षों के यज्ञ में देखने में आता है। यहां वक्ता और श्रोता दोनों नैमिषारण्य की सघन छाया में शान्ति के साथ पर्याप्त अवकाश लेकर बैठे थे। इस समय भारत का उपबृंहण महाभारत के रूप में हो चुका था, चतुर्विंशति साहस्री संहिता बढ़कर शतसाहस्री बन गई थी। उसमें ययाति[1] और परशुराम जैसे बड़े-बड़े उपाख्यान स्वच्छन्दता से मिला लिये गए। बहुत-सी कथाएं, जिन्हें हम बौद्ध जातकों तक में पाते हैं, लोक की चलती-फिरती सम्पत्ति थीं, वे भी महाभारत में मिला ली गईं। अनुशासन पर्व की पुष्करहरण की कथा (अ० ९३ ९४) और बिसजातक (सं० ४८८) एक ही हैं। अनागत विधाता आदि तीन मछलियों की कहानी या राजा ब्रह्मदत्त और पूजनी चिड़िया की बालकहानियां भी महाभारत के भीतर आगई। इसके अतिरिक्त शिव, विष्णु, सूर्य, देवी और गणपति की बढ़ती हुई भक्ति के आवेश में सम्प्रदायविदों ने महाभारत को अपनी कृपा का लक्ष्य बनाया। परन्तु इन सबसे बढ़कर अध्यात्म, धर्म और नीति के अनेक संवाद महाभारत में समय-समय पर मिलते गये। इन सब सम्मिश्रणों के कारण मूल ग्रन्थ का कायापलट हो गया। कुछ समय तक तो भारत और महाभारत का अस्तित्व अलग-अलग पहचानने में आता रहा, परन्तु जैसा स्वाभाविक था, आगे चलकर केवल महाभारत ही आर्य-संस्कृति के सबसे महान् ज्ञान-विज्ञान-कोष के रूप में रह गया।

---

[1] व्याकरण संहिता में इन उपाख्यानों का उल्लेख 'यायात' 'आधि-राम' नामों से किया गया है। (काशिका सूत्र ६।२।१०३)

प्रश्न यह है कि क्या फिर मूल भारत ग्रन्थ को महाभारत में से अलग किया जा सकता है ? क्या यह सम्भव है कि महाभारत के भीतर कालक्रम से जमी हुई विभिन्न साहित्यिक तहों को फिर से उलटकर हम कुछ उस पर्दे को हटा सकें, जिसके पीछे नवीन ने प्राचीन भाग को छिपा रक्खा है ? यह प्रश्न हमारे राष्ट्रीय पांडित्य की कसौटी है। हर्ष की बात है कि यह भगीरथ कार्य पूना के 'भांडारकर प्राच्य विद्या संस्थान' की तरफ से आज लगभग बीस वर्षों से हो रहा है। महाभारत के इस संस्करण में, जहां तक मानवी बुद्धि और परिश्रम के लिए सम्भव है, वहांतक महाभारत के मूल रूप का उद्धार करने का प्रयत्न किया गया है। डा० सुकथनकर इस कार्य के प्राण हैं। उन्होंने अपनी प्रखर प्रतिभा से कुछ-कुछ यह भी प्रयत्न किया है कि हम शौनक के संस्करण से भी पूर्व में हुए परिवर्तनों को अलग पहचान सकें। इस दिशा में उनका भृगु और भारत[1] शीर्षक बृहत् निबन्ध स्तुत्य है। उससे यह ज्ञात होता है कि भृगुवंशी ब्राह्मणों द्वारा किये गए सम्पादन के फलस्वरूप शताब्दियों में भारत को महाभारत का स्वरूप प्राप्त हुआ होगा। कुलपति शौनक स्वयं भार्गव थे। भरतवंश से भी पहले उनकी जिज्ञासा भार्गव वंश की कथा के लिए प्रकट होती है :

तत्र वंशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम् ।

भार्गव शौनक का यह पक्षपात समग्र ग्रन्थ पर पड़े हुए भार्गव-प्रभाव का द्योतक है। और्वोपाख्यान (आदि) कार्तवीर्योपाख्यान (वन), अम्बोपाख्यान (उद्योग), विपुलोपाख्यान (शान्ति),उत्तंकोपाख्यान (अश्वमेध) का सम्बन्ध भार्गवों से है। आदि पर्व के पहले ५३ अध्याय, जिनमें पौलोम और पौष्य पर्व हैं, भार्गव कथाओं से सम्बन्ध रखते हैं। भरतवंश की कथा उसके बाद चली है। शान्ति और अनुशासन पर्वों में जो धर्म और नीतिपरक अंश हैं, वे भी भृगुओं की प्रेरणा के फल हैं। यह सत्य है कि मूल भारत-संहिता के उस शुद्ध रूप का, जिसमें उसका आविर्भाव हिमवत् पृष्ठ के बदरी

---

[1] **भांडारकर इंस्टीट्यूट की मुखपत्रिका भाग १८, पृ० १—७६**

बन में हुआ था, इस समय ठीक-ठीक उद्धार करने का दावा कोई नहीं कर सकता; फिर भी सहस्रों वर्ष की जमी हुई काई को हटाकर जितना भी परिष्कार किया जा सके, श्रेयस्कर है। इस दृष्टि से पूना के भारत-चिन्तकों का कार्य राष्ट्रीय महत्त्व का है। महामति पुराणज्ञ डा० सुकथनकर इस कार्य में हमारे अर्वाचीन उग्रश्रवा हैं।

महाभारत संस्कृत-साहित्य का धुरंधर ग्रन्थ है। उसका साहित्यिक तेज सर्वातिशायी है। एड्डा और सागाओ के लिए प्रख्यात लेखक कारलाइल ने लिखा है कि वे इतनी महान कृतियां हैं कि उन्हें किंचित स्वल्प कर देने पर शेक्सपियर, दांते और गेटे बन सकते हैं। यही बात हम महाभारत के लिए कह सकते हैं। भास, कालिदास, माघ, भारवि, हर्ष की साहित्यिक कृतियां महाभारत के ही अल्प विषयात्मक रूप हैं। यों भी महाभारत साहित्यिक शैलियों की खान है। उपाख्यान शैली, गल्प शैली, दर्शन और अध्यात्म निरूपण की संवादात्मक शैली, प्रश्नोत्तर (युधिष्ठिर-अजगर और युधिष्ठिर-यक्ष-प्रश्न, वनपर्व अ० १८०-८१, अ० ३१३), केवल प्रश्नात्मक शैली (सभापर्व अ० ५, नारद प्रश्न मुख से राजधर्मानुशासन), नीति ग्रन्थात्मक शैली (विदुरनीति, उद्योग० अ० ३३ ४०), स्तोत्र शैली[1] सहस्रनाम शैली, इस प्रकार वर्तमान महाभारत में साहित्यिक पद्धति के अनेक बीज पाये जाते हैं।

पर हमारे राष्ट्रीय अभ्युत्थान के लिए महाभारत का विशेष महत्त्व यह है कि वह प्राचीन भूगोल, समाजशास्त्र, शासन-सम्बन्धी संस्था, नीति

---

[1] **जैसे महापुरुषस्तव (शान्ति अ० ३३८), कृष्णनाम स्तुति (शा० अ० ४३) भगवन्माहात्म्य (अनु० अ० १५८) शतरुद्रिय (अनु० अ०१६१), भगवन्नाम निरुक्ति, (शा० अ० ३४१) और कृष्णस्तवराज) शा० अ० ४७)। स्तोत्र और सहस्रनामों का संग्रह इन्हीं दो पर्वों में है। यह संदेहजनक है।**

और धर्म के आदर्शों की खान है। वेदव्यास जिस भारत राष्ट्र की उपासना करते थे, भविष्य का प्रत्येक हिन्दू उसका स्वप्न देखेगा। उनका निम्न-लिखित राष्ट्रगीत हमारे इतिहास का सनातन मंगलाचरण होगा :

अत्र ते कीर्तयिष्यामि वर्षं भारत भारतम्।
प्रियमिन्द्रस्य देवस्य मनोर्वैवस्वतस्य च।
पृथोस्तु राजन्वैन्यस्य तथेक्ष्वाकोर्महात्मनः।
ययातेरम्बरीषस्य मान्धातुर्नहुषस्य च।
तथैव मुचुकुन्दस्य शिबेरौशीनरस्य च।
ऋषभस्य तथैलस्य नृगस्य नृपतेस्तथा॥
कुशिकस्य च दुर्धर्ष गाधेश्चैव महात्मनः।
सोमकस्य च दुर्धर्ष दिलीपस्य तथैव च।
अन्येषां च महाराज क्षत्रियाणां बलीयसाम्।
सर्वेषामेव राजेन्द्र प्रियं भारत भारतम्॥[1]

आओ, हे भारत, अब मैं तुम्हे भारत देश का कीर्तिगान सुनाता हूं—वह भारत जो इन्द्रदेव को प्रिय है, जो मनु, वैवस्वत, आदिराज पृथु, वैन्य और महात्मा इक्ष्वाकु को प्यारा था, जो भारत ययाति, अम्बरीष, मान्धाता, नहुष, मुचुकुन्द और औशीनर शिवि को प्रिय था। ऋषभ, ऐल और नृग जिस भारत को प्यार करते थे और जो भारत कुशिक, गाधि, सोमक, दिलीप और अनेकानेक वीर्यशाली क्षत्रिय सम्राटों को प्यारा था। हे नरेन्द्र, उस दिव्य देश की कीर्ति-कथा मैं तुम्हें सुनाऊंगा।

व्यास ने राष्ट्रीय राजनीति का जो आदर्श रक्खा है वह मनु और वाल्मीकि से मिलता है। वाल्मीकि के अराजक जनपद गीत से मिलता-जुलता व्यास का 'यदि राजा न पालयेत्' (शान्ति० ६८। १।३०) गीत है। लोक में शान्ति की व्यवस्था राजा का सबसे प्रथम कर्तव्य है। धर्म की जड़ राजा की सुव्यवस्था के बल पर टिकी रहती है। यदि राजा न हो तो दुष्ट साधुओं को खा डालें, धर्म डूब जाय, वेद कहीं के न रहें, सारी प्रजा अन्धकार

---

[1]भीष्म पर्व अ० ९, श्लो० ५—९। संजय धृतराष्ट्र से कह रहे हैं।

में विलीन हो जाय।[१] राष्ट्र के धर्मबन्ध शासन की सुव्यवस्था के अधीन हैं। व्यास के मत में बिना राजा का राष्ट्र मरा हुआ है।

मृतं राष्ट्रमराजकम्। वन० (३१३।८४)

अराजक राष्ट्र मात्स्य न्याय का शिकार हो जाता है। (शा० १६ १७)। व्यास ने राजा और क्षत्रिय की परिभाषा दी है। जो लोकरंजन करता है वही राजा है (शा० ५६।११)। जो क्षत से बचाता है वही क्षत्रिय है (शा० २६।१३८)। इन्हीं आदर्शों को हमारे इतिहास के स्वर्णयुग में कालिदास ने दोहराया था।[२] भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा है कि राजा काल को बनाता है, या काल राजा को बनाता है, इसमें तुम कभी संशय मत करना, राजा ही काल को बनाता है।

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो मा भूद्राजा कालस्य कारणम्॥ (शा० ६९।६)

जब राजा भली प्रकार दंडनीति का पालन करता है, तभी सतयुग आ जाता है। राजा का आसन राष्ट्र का कुकुद है। राजा की उस आदर्श आसन्दी की रक्षा में रहकर प्रजा जिस धर्म का पालन करती है, उसका एक चतुर्थ अंश राजा को प्राप्त होता है। राजा को अपनी नीति में माली की तरह होना चाहिए, कोयला फूंकनेवाले आंगारिक की तरह नहीं। पहला फूलों की चाह में वृक्षों को सींचता है, दूसरा अंगारों के लिए पेड़ों को फूंक डालता है। प्रजाएं राजा का शरीर हैं। अपने-आपको बचाने के लिए भी राजा को

---

[१] **राजमूलो महाप्राज्ञ धर्मो लोकस्य लक्ष्यते।**
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम्॥
न योनिपोषो वर्तेत न कृषिर्न वणिक् पथः।
मज्जेद्धर्मस्त्रयी न स्याद्यदि राजा न पालयेत्॥ (शा० अ० ६८)

[२] **क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः**
क्षत्रस्यशब्दो भुवनेषुरूढः। (रघुवंश २।५३) तथैव सोऽभूदन्वर्थो राजा प्रकृति-रंजनात् (रघु० ४।१२) अर्थात् रघु प्रकृतिरंजन के कारण सच्चे अर्थों में राजा कहलाये।

प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। प्रजा का भी सर्वोत्तम शरीर राजा ही है। राजा को पुष्ट करके वे अपने-आपको बढ़ाती है। जो राष्ट्र की कामना करते हैं उनको सबसे पहले लोक की रक्षा करनी चाहिए। व्यास ने षोडश राजीय पर्व में प्राचीन आर्य राजाओं के आदर्श का स्मरण दिलाया है। राम के राज्य में समय पर मेघ बरसते थे और सदा सुभिक्ष रहता था। दिलीप के राज्य में स्वाध्याय घोष, टंकार घोष और दान के संकल्प का घोष, ये तीन शब्द बराबर सुनाई पड़ते थे। संक्षेप में, वेदव्यास के मत के अनुसार लोक का सारा जीवन राजधर्म के आश्रित है। राजधर्म बिगड़ गया तो वेद, धर्म, वर्ण, आश्रम, त्याग, तप, विद्या सबकुछ नष्ट हुआ समझना चाहिए। (शान्तिपर्व, ६३।२८।२९)

मज्जेत् त्रयी दंडनीतौ हतायां सर्वेधर्माः प्रक्षयेयुर्विवृद्धाः।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणांहताःस्युः क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे॥
सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः सर्वाः दीक्षा राजधर्मेषु युक्ताः।
सर्वा विद्या राजधर्मेषु चोक्ताः सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः॥

व्यास ने जो धर्म का स्वरूप रखा है, वह उनका सबसे महान् ऋषित्व या दर्शन है। वह धर्म को स्वर्ग-प्राप्ति करानेवाले थोथे कर्मों का जजाल नहीं मानते। उन्होंने अपने ध्यान से धर्म की एक नई परिभाषा, एक नये स्वरूप का अनुभव किया :

नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजाः (उद्योग० १३७।९)

व्यक्ति को, राष्ट्र को, जीवन को, संस्थाओं को, लोक और परलोक, सबको धारण करनेवाले जो शाश्वत सर्वोपरि नियम हैं वे धर्म हैं :

धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।
यस्त्याद्धारण संयुक्त स धर्म इत्युदाहृतः॥

धर्म स्वर्ग से भी महान् है। लोकस्थिति का सनातन बीज धर्म है। इस दृष्टि से देखने पर धर्म गंगा के ओजस्वी प्रवाह की तरह जीवन के सुविस्तृत क्षेत्र को सिंचित और पवित्र करनेवाला अमृत बन जाता है। राजाओं की जय और पराजय आने-जानेवाली चीज है, जीवन में सुख और दुःख भी सदा

एक से नहीं रहते, पर सम्पत्ति और विपत्ति में भी जो वस्तु एक-सी बनी रहती है, वह धर्म है। व्यास ने 'महाभारत संहिता' लिखने के बाद उसके अंत में अपने दृष्टिकोण और उद्देश्य का निचोड़ चार श्लोकों में भर दिया है, जिसे भारत-सावित्री कहते हैं उसका अन्तिम श्लोक यह है :

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् ।
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।
नित्यो धर्मः सुख दुःखे त्वनित्ये ।
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥

अर्थात्—"काम से, भय से, लोभ से, यहांतक कि प्राणों के लिए भी धर्म को छोड़ना ठीक नहीं, क्योंकि धर्म नित्य है, सुख और दुःख क्षणिक है। इसी तरह जीव भी नित्य है, जन्म और मृत्यु अनित्य हैं। मैं भुजा उठाकर कह रहा हूं, पर कोई मेरी बात सुननेवाला नहीं है। धर्म से ही धन और काम मिलते हैं, उस धर्म का आश्रय क्यों नहीं लेते ?" ये भारत-सावित्री में व्यास के साक्षात् वचन हैं।

यदि धर्म जीवन को धारण करनेवाला है और धर्म अच्छी चीज है तो जीवन भी मूल्यवान् होना चाहिए। व्यास के धर्म में जीवन रोने-धोने या माया समझकर खोने की चीज नहीं। उनकी दृष्टि में यह लोक कर्मभूमि है, परलोक फलभूमि होगा। देवदूत ने मुद्गल से कहा :

कर्मभूमिरियं ब्रह्मन् फलभूमि रसौ मता। (वन० २६१।३५)

वन में पांडवों के पास जाकर स्वयं व्यास ने यह मत रक्खा था। वे इस लोक में कर्मवाद को मानते हैं। उसके साथ दैववाद को मानते हैं और दोनों के ऊपर अध्यात्म ब्रह्म या आत्मतत्व में विश्वास रखते हैं। उन्होंने जो दार्शनिक मत रक्खा उसमें मनुष्य सबके केन्द्र में है। व्यास का यह श्लोक स्वर्ण के अक्षरों में टांकने योग्य है :

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि ।
नहि मानुषात् श्रेष्टतरं हि किंचित् । (शान्ति० १८०।१२)

अर्थात्—यह रहस्य-ज्ञान तुमको बताता हूं, मनुष्य से श्रेष्ठ अन्य कुछ नहीं।

व्यास का यह मानव केन्द्रिक मत हमारे अर्वाचीन ज्ञान-विज्ञान और सामाजिक अध्ययन में सर्वत्र व्याप्त होता जा रहा है।

व्यास की परिभाषा के अनुसार कर्म मनुष्य की विशेषता है :

प्रकाशलक्षणा देवा मनुष्याः कर्मलक्षणाः । (अश्व० ४३।२०)

कर्म करने से जो प्रकाश जीवन में आता है उसीसे मनुष्य देव बन जाता है। आत्माभिमान के साथ मनुष्य शरीर रखने से ही सारे लाभ प्राप्त होते हैं।

पाणिवाद

व्यास ने मानवी पुरुषार्थ की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए इन्द्र के मुख से पाणिवाद का व्याख्यान कराया है।[1]

लोक संग्रह और लोकधर्म

व्यास की दृष्टि में लोक-संग्रह और लोक-धर्म बहुत मूल्यवान् पदार्थ हैं। आजगर मुनि को लोकधर्मविधानवित् अर्थात् लोकधर्म के सिद्धान्त और संगठन का वेत्ता (शा० १७९।९) कहा गया है। जो व्यक्ति लोकपक्ष का इतना समर्थक हो, उसे गृहस्थ धर्म का प्रशंसक होना ही चाहिए। व्यास के अनुसार धर्म के द्वारा प्रवृत्त गृहस्थ आश्रम सब आश्रमों में तेजस्वी मार्ग है, वह पवित्र धर्म है जिसकी उपासना करनी चाहिए।[2]

व्यासजी ने नगद धर्म पर बल दिया है। वह कहते हैं—मनुष्य लोक में ही जो कल्याण है उसे मैं अच्छा मानता हूं :

मनुष्यलोके यच्छेयः परं मन्ये युधिष्ठिरः (वनपर्व १८३।८८)

व्यासजी की दृष्टि में वह व्यक्ति अधूरा है जो लोक से दूर रहता है। जो मनुष्य स्वयं अपनी आंखों से लोक का ज्ञान प्राप्त करता है वही सब-कुछ जान सकता है :

प्रत्यक्षदर्शी लोकानांसर्वदर्शी भवेन्नरः । (उद्योग० ४३।३६)

---

[1] देखिये लेख सं० १०।

[2] सर्वाश्रमपदेऽप्याहुर्गार्हस्थ्यं दीप्तनिर्णयम् ।
पा वनं पुरुषव्याघ्र यं धर्मं पर्युपासते ॥ (शा० ६६।३५)

जैसा कर्म किया जाता है, वैसा ही लाभ मिलता है, यही शास्त्रों का निचोड़ है :

यथा कर्म तथा लाभ इति शास्त्रनिदर्शनम् ।

(शान्ति० २७६।२०)

किन्तु धनागम धर्म से होना चाहिए। व्यासजी के मन में धर्म का जो ऊंचा स्थान है उसके अनुसार न केवल अर्थ, वरन् काम और मोक्ष भी धर्म पर आश्रित हैं और यह राज्य भी धर्ममूलक है।

लोक, गार्हस्थ्य और मनुष्य के लिए जिस महापुरुष के मन में श्रद्धा है, जिसका दृष्टिकोण इन विषयों में मंजा हुआ है, उसका अध्यात्मशास्त्र भी तदनुकूल ही मानव को साथ लेकर चलता है। मनुष्य पंचेन्द्रियों से युक्त प्राणी है। इन्द्रियां ही मानव को देव या असुर बना देती हैं। व्यास के अध्यात्मशास्त्र का सार इन्द्रिय-निग्रह है।

कालधर्म

वेदव्यास के आध्यात्मिक दर्शन में कालधर्म का बड़ा स्थान है। उनकी आंखों ने समंत पचक में हुए कुरु-पांडवों के दारुण नाश को देखा। बड़े कुशाग्र बुद्धि और कल्याणाभिनिवेशी व्यक्ति इच्छा रखते हुए भी उस क्षय को नहीं रोक सके। यह कालचक्र की ही महिमा है। कर्म के साथ मिलकर काल ही संसार में बहुत तरह के उलट-फेर करता है। (शा० २१३।१३)। काल के पर्याय धर्म के सामने सब अनित्य ठहरता है, कभी एक की बारी, कभी दूसरे की। महाभारत के अन्त में जो व्यक्ति स्त्री-पर्व को देखे, वह इसके सिवाय और क्या कह सकता है :

न च दैवकृतो मार्गः शक्या भूतेन केनचित् ।
घटतापि चिरं कालं नियन्तुमिति मे मतिः ।।

कोई प्राणी कितनी भी कोशिश करे, दैव के रास्ते को नहीं रोक सकता। यह दैव या उत्कट काल विश्व का नित्य विधान है। इसीका नामान्तर सनातन ब्रह्म है। वेदव्यास मानव-जीवन की घटनाओं की ऊहापोह करते हुए उनके अन्तिम कारण की खोज में यहीं विश्राम लेते हैं। यह सच है कि

मनुष्य विधाता के द्वारा निश्चित संसार के विधान को बदल नहीं सकता, पर वह यह अवश्य कर सकता है कि उस सर्वोपरि शक्ति के रहस्यों का साक्षात्कार करके जीवन में ऋजु भाव अपनाले। वह यह भी कर सकता है कि इन्द्रियों के निरोध और आत्म-चिन्तन से आत्मा-ज्योति को इसी शरीर में प्राप्त कर ले। यह शरीर मूंज-घास है, आत्मा उसके भीतर की सींक है। जिस प्रकार मूंज से इषीका निकाली जाती है, वैसे ही योगवेत्ता शरीर में आत्मा का साक्षात्कार करते हैं। (आश्व० १९।२२।२३)

व्यास की आज्ञा है कि जय नामक इतिहास सबको सुनना चाहिए। यह धुरंधर ग्रन्थ भारतीय चरित और ज्ञान का पूर्णतम वर्ण पट है। इसके निर्माता की प्रज्ञा सूर्यरश्मियों की तरह विराट है। सारा भारत राष्ट्र महामुनि वेदव्यास के लिए अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है। हम भी हिमालय के शिलाप्रस्थ पर विराजमान बदरिकाश्रम के पुराण मुनि को प्रणाम करते हैं, जिनके पृथु नेत्रों में हमारे ज्ञान का सारा आलोक समा गया था, जिनका शालस्कन्ध के समान उन्नत मेरुदंड राष्ट्रीय मेरुदंड का प्रतीक था, जिनके चन्दनोक्षित कृष्णशरीर में हमारे शुभ्र आदर्श मानो राशिभूत होकर मूर्तिमान हो उठे थे।

: १० :

पाणिवाद

दस अंगुलियोंवाले हाथ मनुष्य की सबसे बड़ी सम्पत्ति हैं। उनका उपयोग करने में वह स्वाधीन है। हाथों से काम करने का अर्थ सब प्रकार के शारीरिक श्रम या शरीर से होनेवाली मेहनत-मजदूरी के लिए मनुष्य की सहर्ष अभिलाषा और शारीरिक श्रम के लिए पूज्य बुद्धि। शारीरिक श्रम के प्रति यह सुलझा हुआ भाव नई शिक्षा-दीक्षा और जीवन के नये दृष्टिकोण की देन समझा जाता है, किन्तु जीवन में कर्म की प्रधानता भारत-वर्ष की पुरानी विचार-पद्धति रही है। कर्म के अन्तर्गत सब प्रकार का शारीरिक श्रम आजाता है। भारतीय जीवन-पद्धति में व्यक्तिगत और

पारिवारिक आवश्यकता के अनेक छोटे-मोटे कामों को स्वयं अपने हाथों करने का अभ्यास डाला गया था। छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, ऊंच-नीच, सब प्रकार के मनुष्य हाथ से काम करना गौरव की बात समझते थे। उसमें किसी प्रकार की झिझक या लज्जा का भाव न था।

अत्यन्त प्राचीन काल में वेदव्यास ने श्रम की इस महिमा को बड़े काव्यमय ढंग से कहा था। इसे हम व्यास का पाणिवाद कह सकते हैं। व्यास के शब्दों में दस अंगुलियोंवाले हाथ भगवान के दिये हुए हैं। दैव के दिये हुए हाथों (देवदत्तौ पाणी) को जिसने पाया उसे क्या नहीं प्राप्त हुआ? पाणिलाभ से बढ़कर संसार में और दूसरा कोई लाभ नहीं है। हाथों के लिए 'देवदत्त' विशेषण न केवल साहित्यिक प्रतिभा का सूचक है, बल्कि उनसे होनेवाले कर्म के लिए व्यास के मन में जो दृढ़ आस्था थी उसे भी प्रकट करता है। दैव और पुरुषार्थ, इन दोनों का झगड़ा बहुत पुराना है। दैव अपने स्थान पर है, किन्तु जिस समय वह मनुष्य को हाथ दे देता है, उसका काम पूरा होजाता है। आगे मनुष्य का काम है कि वह दैव के दिये हुए हाथों से सब अर्थों को सिद्ध करे। व्यास का यह अनोखा पाणिवाद हमारी बीसवीं शताब्दी की जन्मघुट्टी में मिल जाना चाहिए। हममें से कोई ऐसा न रहे जो इस पाणिवाद के मंत्र को जीवन का अंग न बनाले। व्यासजी कहते हैं, "जीवन में ऐसे बहुत-से व्यक्ति मिलेंगे जो धन की चाहना किया करते हैं, अर्थात् जिनकी मनोवृत्ति यह रहती है कि कहीं से भगवान पैसा भेज दें तो सब ठीक होजाय। मैं ऐसे मनुष्यों की प्रशंसा नहीं कर सकता। मैं तो ऐसे मनुष्यों को चाहता हूं जो हाथवाले हैं और जिनमें अपने हाथों का अभिमान है।" कहा जाता है कि वैज्ञानिकों के एक दल को किसी देवता ने प्रसन्न होकर स्वर्ग में भेजना चाहा तो उन्होंने प्रार्थना की कि नहीं, हमें नरक में भेजा जाय, जिससे हमें करने के लिए कुछ काम मिले। सच्चे पाणिवाद की यही मनोवृत्ति होती है। व्यास के शब्दों में—'अहो सिद्धार्थता तेषां येषां संतीह पाणयः', अर्थात्, जिनके हाथ सही-सलामत हैं उन्हींके सारे काम पूरे उतरते हैं। सिद्धार्थता अर्थात् अपने सब अर्थों की सिद्धि—इसका रहस्य व्यासजी के अनुसार मनुष्य की अंगुलियों से बंधी हुई मुट्ठियों में है। दस अंगुलियां

देखने में छोटी लगती हैं, पर इनके घेरे में सारा कर्मण्य संसार समाया हुआ है। हमारा यह लोक व्यास की परिभाषा में पाणिमंतों के लिए है। इसमें जो हाथ से मेहनत करेगा वही भोजन पायेगा। जो श्रम करेगा उसे ही जीवन में हँसी-खुशी से मिलनेवाला आनंद प्राप्त हो सकेगा। जो पहले अपने-आपको श्रम से थका डालता है, उसीको पीछे आमोद-प्रमोद का सच्चा स्वाद मिलता है। जिनके हाथ हैं, वे ही तरह-तरह से मौज करते और हँसते-खेलते हैं। इस प्रकार का घरेलू जीवन-सत्य पाणिवाद के मूल में छिपा हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन काल का भारतवर्ष कर्म की रीढ़ के बल पर सीधा खड़ा हुआ था। जबसे हमारा कर्म ढीला पड़ा, हमारी रीढ़ झुक गई और जीवन की स्वच्छ पद्धति में गड़बड़ी उत्पन्न होगई। जो हाथों से काम करता है, वह किसीसे भिक्षा नहीं मांगता। वह ऊंचे स्वर से कहता है—जीवन में जो लाभ मैं पाऊं वह अभिमान के साथ मुझे मिले, भिक्षा या दीनता से नहीं :

सर्वे लाभाः साभिमानाः इति सत्यवती श्रुतिः। (शांतिपर्व १८०।१०)

ययाति ने अपने जीवन के अनुभव का निचोड़ बताते हुए यहांतक कह डाला था कि मुझे वह वस्तु नहीं चाहिए जिसके लिए मैंने कर्म न किया हो :

अहं तु नाभिगृह्णामि यत्कृतं न मया पुरा। (मत्स्यपुराण, ४२।११)

बुद्धिपूर्वक कर्म ही नर-जीवन की प्रतिष्ठा अर्थात् खड़े होने की नींव है। प्रज्ञा या बुद्धि को परम लाभ कहा गया है :

प्रज्ञा प्रतिष्ठा भूतानां प्रज्ञालाभः परो मतः। (शांतिपर्व, १८०।२)

एक ओर बुद्धि और दूसरी ओर कर्म—इन दोनों का मेल सफलता के लिए परम आवश्यक है। इसीलिए महाभारत की कहानी है कि जब धन से गर्वित किसी वैश्य-पुत्र ने एक ऋषिपुत्र का अनादर किया तो वह ऋषि-पुत्र निर्धन होने के कारण मरने के लिए तैयार हो गया :

मरिष्याम्यधनस्येह जीवितार्थो न विद्यते।

उसी समय इंद्र ने भेष बदलकर उसके सामने आकर उसे पाणिवाद का उपदेश दिया :

न पाणिलाभादधिको लाभः कश्चन विद्यते ।

"हाथों के होने से बढ़कर और कोई लाभ नहीं है।" जब यह प्राप्ति तुम्हारे पास है तब दीन मत बनो। इसी एक लाभ का उचित उपयोग करके तुम स्वाभिमान की रक्षा कर सकते हो। स्वाभिमान के साथ जब तुम अपने हाथों का उपयोग करोगे तभी वेद की यह सत्यवती श्रुति तुम्हारे जीवन में पूरी उतरेगी कि जो लाभ है वह व्यक्तित्व का मान रखकर मिलना चाहिए—

सर्वे लाभाः साभिमानाः इति सत्यवती श्रुतिः ।

मार्ग के कांटों को उखाड़ने के लिए हाथों के उपयोग की आवश्यकता है। जो पाणिमंत हैं वे मार्ग को निष्कंटक बनाते हुए अपना रास्ता साफ करते चलते हैं। पाणिलाभ की यह प्रशंसा कर्म की प्रशंसा है, और कर्म की प्रशंसा मनुष्य-जीवन के सच्चे गौरव को पहचान लेना है। बुद्धि-पूर्वक किया हुआ कर्म ही सच्चा है। बुद्धि और कर्म जीवनरूपी रथ के दो पहिये हैं। दोनों की सहायता से जीवन का रथ आगे बढ़ता है। अतएव व्यास ने इन दोनों को ही परमलाभ कहा है।

आज हमें अपने कर्म को सम्भालने की बड़ी आवश्यकता है। सबके आगे कर्त्तव्यों के नये अध्याय खुल रहे हैं। उन कर्त्तव्यों को हम पहचानें और पूरा करें। यही हरेक के सम्मुख चलने का मार्ग है। अपने-अपने स्थान पर खड़े हुए हरेक को कर्त्तव्य-कर्म के विषय में प्रश्न करना चाहिए और उसका स्पष्ट, निश्चित उत्तर प्राप्त करना चाहिए।

: ११ :

वैदिक दर्शन

वैदिक युग में विचारों के गरुड़ ज्ञान के आकाश में बहुत ऊंचे उड़े। वह ज्ञान का सद्यः प्रभात था, उसकी उषःकालीन रश्मियों से स्फूर्ति पाकर मन के वैनतेय ने प्रचण्ड शक्ति के साथ अपने पंख फड़फड़ाये। पृथिवी और

द्यु-लोक के अनन्त अन्तराल में ज्ञान-सुपर्ण ने अपने लिए जितना प्रदेश नापा वही संस्कृति के विस्तार का भूगोल निश्चित हुआ। पृथिवी सूक्त के ऋषि ने प्रार्थना की है कि पृथिवी हमारे लिए 'उरु लोक' की कल्पना करे। यह 'उरु लोक' या महान् विस्तार ज्ञान के आकाश में हरएक को अपने लिए बनाना पड़ता है। वामन-पुरुष विराट् विचारों से त्रिविक्रम बनकर तीनों लोकों को अपने चरणों से नापने का आयोजन करता है—

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेषु अधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा—

"जिसके तीन विस्तृत चरण-न्यासों में त्रिभुवन समाया हुआ है"—इस दृष्टिकोण के अनुभव से ऋचाओं के विद्वान् गायक विश्वास के साथ ज्ञान के नये प्रदेश जीतने निकले; उनका प्रतिभा-चक्षु खुला, वैदिक भाषा में कहें तो वह चक्षु फूलकर बाहर की ओर आया और अश्वमेध के अश्व की तरह उस चक्षु ने स्वच्छन्द विचरण किया, विशाल गति से द्यावा-पृथिवी समस्तलोक और दिशाओं का उसने चक्कर लगाया—

परि द्यावा पृथिवी सद्य इत्वा
परि लोकान् परि दिशः परि स्वः

इसीसे ज्ञान का अश्वमेध पूर्ण हुआ। भारतीय दर्शन का उषःकाल या वैदिक दर्शन ज्ञान के मेध्य अश्व का सिर है—

उषा वै मेध्यस्य अश्वस्य शिरः।

वैदिक दर्शन में जो महिमा या वरिष्ठ-भाव है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। ऋग्वेद में एक सुन्दर शब्द का प्रयोग हुआ है—महयाय्य, जिसका अर्थ है वह कार्य जो बड़ाई के योग्य है। हम कह सकते हैं कि संस्कृति की पौ फटने के समय उसकी प्रथम व्युष्टि या प्रभात में ऋषियों ने ज्ञानाग्नि का जो समिन्धन किया, वह एक महयाय्य कर्म था, जिसके उचित मूल्य आंकने और प्रशंसा करने का अनुकूल समय अब आया है।

दूरंगम विचरण के योग्य बनने के लिए मन को सर्वप्रथम अपना ही संस्कार करने की आवश्यकता होती है। ध्यान की प्रक्रिया से मन का यन्त्र बलवान् बनाया जाता है। ध्यान ही समाधि है। **'युंजते मन उत युञ्जते धियः'** का सत्य सृष्टि का सत्व है। धी—युंजन द्वारा मनुष्य जड़जगत्

से अपने-आपको ऊपर उठाता है। 'धीमहि' वैदिक दर्शन का नियामक सूत्र है। धी-युंजन और धी-प्रेरण इन दो चक्रों से वैदिक दर्शन का रथ गतिमान हुआ। विश्व की विचार-शक्ति के नियन्ता ने मनुष्य को धी प्रदान की है और वह उस धी या बुद्धि को प्रेरित करता है। हमें उचित है कि उस धी को और नियन्ता की महिमा का चिन्तन करने और समझने के लिए प्रयुक्त करें, यही धी-युंजन के लिए पवित्रतम कर्तव्य है। धी-प्ररण देवों का कार्य है और धी-युंजन मानुषी कर्म है।

मन ही कल्पवृक्ष है। इसका कल्प शब्द चिन्तन या ध्यान का पर्याय-वाची है। ध्यान-रूपी कल्पवृक्ष के नीचे ही भारतीय संस्कृति विकसित हुई है। कल्प या चिन्तन दो प्रकार का होता है—समाधियुक्त या संकल्प और व्याधियुक्त या विकल्प। सम्यक् दर्शन या संकल्प को वैदिक दर्शन और संस्कृति में प्रथम स्थान प्राप्त हुआ। प्रत्येक व्यक्ति के मस्तक पर विचार या चिन्तन की चिन्तामणि और वक्षस्थल पर दृढ़ संकल्प की कौस्तुभमणि सुशोभित हो, यही शक्ति की पूर्णता है। वैदिक दर्शन का विचार करते समय पहले उस दर्शन के स्रष्टा हमारे सामने आते हैं, जिन्हें कवि और ऋषि कहा गया है। कवि क्रांतिदर्शी होते हैं। ऋषि भी साक्षात् दर्शन की सामर्थ्य से युक्त होते हैं। वैदिक दर्शन अथ से इति तक तत्त्व को साक्षात् करने का बलवान् प्रयत्न है। वह केवल बुद्धि का कुतूहल नहीं है। उसके क्षेत्र में प्राण सत्य को अधिकृत करने की सशक्त चेष्टा करता है, उस प्रयत्न में सफल होकर ही उसे शान्ति प्राप्त होती है। सत्य का जबतक अनुभव नहीं होता तबतक प्राण अपने संतुलन को प्राप्त नहीं कर पाता।

इस दृष्टि से वैदिक दर्शन को स्वयं अपनी स्थिति और वृद्धि के लिए तपोमयी जीवन-प्रणाली का आविष्कार करना पड़ा। जबतक तप के द्वारा शक्ति उर्ध्वस्थित नहीं होती, तबतक अमृत-सृष्टि असम्भव है, वैदिक वाङ्मय में अनेक स्थानों पर तप और तपोमय जीवन का निरूपण मिलता है। तप वैदिक संस्कृति का मेरुदण्ड है। वैदिक दर्शन के अनुसार स्वयं प्रजापति ने विश्व की रचना के लिए तप किया, उसके समिद्ध तप से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए जो सृष्टि के नियामक हैं। विश्व में जीवन की तीन

कोटियां हैं—दैवी, मानुषी और आसुरी। दैवी सृष्टि तप पर आश्रित है, मध्य में स्थित मनुष्य तप द्वारा ऊपर उठता है और तप के बिना नीचे आसुरी लोकों में गिरता है। इस प्रकार जीवन की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में वैदिक द्रष्टाओं ने तप के रहस्य का आविष्कार किया।

वैदिक दर्शन अत्यन्त विस्तृत ईक्षण का परिणाम है। ब्राह्मण ग्रन्थों ने मूलतत्व की अनन्तता से प्रभावित होकर स्वयं 'अनन्ता वै वेदाः' कहकर अपने क्षेत्र का परिचय दिया है। इसको एक छोटे उपाख्यान द्वारा स्पष्ट किया गया है—

भरद्वाज ऋषि ने जन्मपर्यंत तप किया। दूसरा शरीर मिलने पर फिर तप किया। तीसरे शरीर में भी वह तप करने लगे। उनके तीन जन्म के तप को देखकर इन्द्र ने सामने प्रकट होकर पूछा—"भरद्वाज, क्या कर रहे हो?" उत्तर मिला--"वेदाध्ययन के लिए तप कर रहा हूं।"इन्द्र ने फिर प्रश्न किया- "तुम्हें यदि एक जन्म और मिले तो क्या करोगे?" भरद्वाज ने कहा— "इसी प्रकार तप करूंगा।" इस समय भरद्वाज के सामने तीन पर्वत प्रकट हुए। इन्द्र ने उनमें से एक-एक मुट्ठी भरकर फेंकते हुए कहा—

"भरद्वाज, ये पर्वत देखते हो। वेद इन्हींकी तरह अनन्त हैं।"

अनन्तता के भाव ने वैदिक विचार-धारा को बहुत प्रभावित किया है, वैदिक विचारक शरीर के वामन-भाव या सीमा-भाव को सहन नहीं कर सकता, वह परिधि का असहिष्णु है। घेरा डालना उसे अच्छा नहीं लगता। कभी-कभी ऐसा मालूम होता है कि वह सब बन्धनों को तोड़, उड़कर विराट् विश्व में मिल जाना चाहता है। उसका उद्गार है—

इष्णन्निषाण, अमुं म इषाण
सर्वं लोकं म इषाण—

"मेरे लिए यदि कुछ चाहते हो तो यह चाहो कि वह लोक मेरे वश में आजाय और सारा भुवन ही मुझे मिल जाय।"

अनन्त को अनेक रूपों और प्रतीकों से प्रकट करने का प्रयत्न वैदिक दर्शन की विशेषता है। विष्णु के त्रिविक्रम रूप की कल्पना अनन्तता की ही व्याख्या है। वामन या परिमित तत्त्व विराट्भाव में फैलता है, यही

त्रिविक्रम का तात्पर्य है। देश के अतिरिक्त काल भी अनन्त हैं, काल का चक्रवत् परिभ्रमण अनन्तकाल को कहने का ही एक ढंग है। विश्व का प्रवाह, संवत्सर या काल की गति, अहोरात्रि का परिवर्तन—ये सब चक्र-गति के उदाहरण हैं। सूर्य का रथ भी एक संततगामी चक्र पर घूमता है। काल की अनन्तता का वर्णन सहस्र देवयुगों की गणना-पद्धति से जाना जा सकता है।[१] ऋग्वेद का सहस्र-शीर्षा पुरुष अनन्त ब्रह्म का ही दूसरा पर्याय है। वेदों में अनंत भाव के लिए 'सहस्र' शब्द और सान्त के लिए 'शत' शब्द आता है। सृष्टि के बाहर जो बच रहता है वह शेष है। शेष अनन्त है। जो सृष्टि—परिच्छिन्न है, वह विष्णु है। विष्णु अनन्त (सहस्रशीर्षा) के आधार से स्थित है—इस कल्पना का मूल "सहस्रशीर्षा पुरुषः" सूक्त है। सहस्रशीर्षा पुरुष की दूसरी संज्ञा त्रिपाद् का ऊर्ध्व है। जो सृष्टि से ऊपर या बाहर रहता है वही ऊर्ध्व है। अमृत ब्रह्म ऊर्ध्व और मर्त्य जगत् अधः कहलाता है। त्रिपाद् ब्रह्म के एक पाद से ही यह जगत् निर्मित होता है—

त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः पादोऽस्येहा भवत्पुनः।

विराट् जगत् और विराट् में पुरुष की कल्पना यह वैदिक दर्शन का रोचक सूत्र है। प्रजापति ने अपने शरीर से ही यह सृष्टि-यज्ञ रचा है, इसे बनाकर वह स्वयं इसमें रम रहा है—

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।

इसी कारण इस सृष्टि में सर्वत्र चैतन्य की सत्ता है और इसमें प्राण-भाव और मन का अधिष्ठान है। महाचैतन्य संतत अपने-आपको जड़ के द्वारा व्यक्त कर रहा है। यही उसका रास है। विराट् और पुरुष को ही असौ और अयं कहा जाता है। जो असौ है वही अयं है। वैदिक दर्शन ब्रह्माण्ड और पिण्ड की एकता को स्वीकार करता है। जो यज्ञ विराट् विश्व में हो रहा है वही एक पिण्ड में भी विद्यमान है। प्रत्येक केन्द्र पर उस विराट् यज्ञ की वेदी बनी हुई है। **'सर्वं सर्वत्र सर्वदा'** सूत्र चैतन्य की सब काल और सब स्थानों में अव्याहत सत्ता को प्रकट करता है। यज्ञ वैदिक दर्शन का प्रयोगा-

---

[१]देखिये, 'लोमश' पृष्ठ ६७

त्मक विज्ञान है। वैध यज्ञ से विराट् यज्ञ की व्याख्या की जाती है। अधिदैव को अध्यात्म में देखना वैदिक कर्मकांड की बड़ी विशेषता है। वैदिक मंत्रों में अधिदैव और अध्यात्म अर्थ साथ-साथ चलते हैं। इस दर्शन ने अपने लिए एक ऐसी परिपूर्ण भाषा का निर्माण किया, जहां की परि-भाषाएं एक ही साथ कई क्षेत्रों में काम देती हैं। यह उस भाषा का तेज है, पर इससे अर्थ में अनास्था नहीं आती। जो उस दृष्टिकोण को देख सकता है उसे अर्थ-गति के कई समानान्तर विकसित होते हुए प्रकार स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। वैदिक भाषा की इस समानान्तर द्योतक शक्ति ने उस साहित्य को बड़ी समृद्धि प्रदान की है।

वैदिक दर्शन की एक विशेषता यह है कि वहां 'इदमित्थं' का अभिनिवेश नहीं पाया जाता। कवियों के हृदय तरंगित होते हैं, वे किसी प्रकार जड़ी-भूत चिन्तन का मर्षण नहीं करते। पथराये हुए विचारों का उद्गिरण उनको प्रिय नहीं है। वे बराबर साक्षात् रूप में सत्य के साथ टक्कर लेने का प्रयत्न करते हैं। ऋग्वेद का कितना सुन्दर कथन है कि ज्ञान के अधिष्ठातृ देवता की जो पुत्रियां हैं, वे न तो बिल्कुल वस्त्रों से ढकी हैं और न बिल्कुल नग्न हैं—

दिवो यह्वीरवसना अनग्नाः (ऋ० ३।१।६)

जो गुह्य सत्य है उसकी रश्मियां न तो एकदम चाक्षुष विषय की तरह प्रकट हैं और न वे इस तरह तिरोहित हैं कि कोई उनतक पहुंच ही न सके। मूलतत्त्व की इस विशेषता से अर्वाचीन विज्ञान को भी पाला पड़ा है और उसके चिन्तन की शैली 'दो-और-दो चार' जैसे ध्रुव सत्य पर इस समय अविचल नहीं है। संशय और द्विविधा की छाया वैज्ञानिक विचारों पर पड़ चुकी है, परन्तु ऋग्वेद के उस आदि युग में साहसी मन-स्वियों ने यहांतक कह डाला था कि मनुष्य की तो सामर्थ्य ही क्या, इस सृष्टि का जो अध्यक्ष है, वह भी स्वयं इसके मर्म और इसके तत्त्व को निश्चयपूर्वक जानता है या नहीं, यह कहना कठिन है—

यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् स अंग वेद यदि वा न वेद।

'वह जानता है;' पर क्या सचमुच वह भी जानता है? (**स अंग वेद यदि वा न वेद**) इस प्रकार यदि वा की इस ध्वनि में जो सच्चाई और साहस

निहित है, वही वैदिक दर्शन का आकर्षक सौन्दर्य है। मेधावी मैटरलिंक ने नासदीय सूक्त के प्रभावशाली उद्‌गारों के सम्बन्ध में अपनी पुस्तक 'महान् रहस्य' में लिखा है—

"क्या मानवी साहित्य में ऐसे शब्द हैं जो नासदीय सूक्त के इन शब्दों से अधिक उदात्त, अधिक विषादपूर्ण, अधिक तेजस्वी, अधिक श्रद्धामय और साथ ही इनसे अधिक डरावने हों ? जीवन-प्रवाह के आरम्भ में ही इस देश में इस प्रकार पूर्ण रीति से मनुष्य ने अपनी अज्ञता को स्वीकार किया। सहस्रों वर्षों से बहनेवाले हमारे गम्भीर संशय और सन्देहों की परिधि क्या कहीं इतनी विशाल बन सकी है, जितनी यहां है ? अबतक जो कुछ इस दिशा में कहा जा सका है उस सबको फीका कर देनेवाले हमारे ये उषःकालीन वाक्य हैं। और कहीं ऐसा न हो कि जटिल संप्रश्नों के पथ पर चलते हुए हम भविष्य में निराश हो बैठें, इसलिए नासदीय सूक्त के ऋषि ने संशयवाद के मार्ग में निर्भयतापूर्वक उससे भी कहीं अधिक कह डाला है, जितना हम भविष्य में कभी कह पायंगे। वह इस प्रश्न के पूछने में भी नहीं हिचकिचाता कि ब्रह्म को भी इस सृष्टि का या अपने किये का ज्ञान है अथवा नहीं।" सृष्टि की जो बड़ी पहेली है, जिसे वैदिक भाषा में महान् संप्रश्न कहा गया है, उस संप्रश्न के साथ सींग पकड़कर टक्कर लेने का प्रयत्न करते हुए वैदिक मनीषियों को कहना पड़ा—

"न सत् था, न असत् था, न कहीं अन्तरिक्ष था, न उससे परे व्योम। कौन कहां गतिमान् था, किसकी किसको शरण थी ? जल और गंभीर सागर उस समय क्या थे ?

"न उस समय मृत्यु थी, न अमृत। रात और दिन का विवेक कहां था ? केवल वही एक वायु के बिना अपनी शक्ति से प्राणन-क्रिया कर रहा था। उसके अतिरिक्त कुछ न था।

"सर्व प्रथम उसमें 'काम' उत्पन्न हुआ, जो मन का अग्रिम रेत है। ज्ञान से भरपूर विप्रों ने अपने ही अन्तस्तल में खोजते हुए सत् के बन्धुओं को असत् में पाया।

"कौन जानता है? कौन कह सकता है? कहां से यह सृष्टि उत्पन्न हुई? देवता भी इसके जन्म के बाद हुए, तो फिर कौन जाने यह कहां से विकसित हुई?

"यह सृष्ट कहां से फैली ? यह जन्मी भी है या नहीं ? परम व्योम में इसका जो अध्यक्ष है, वही इसे जानता है; पर वह भी जानता है या नहीं ?"

इस सूक्त में हृदय की जो जिज्ञासा और प्रबल मनीषा है, वह समस्त भारतीय दर्शन की जिज्ञासा को मानो एक ही केन्द्र-बिन्दु पर प्रकट कर रही है। सृष्टि के गरिष्ठ प्रश्न के समाधान की असफलता को इस प्रकार साहस के साथ स्वीकार करके सत्य के जिज्ञासुओं ने विश्व-दर्शन के तोरण पर विचार-स्वतन्त्रता के अंक लिखकर उसका महान् उपकार किया है।

वैदिक संप्रश्न का ही दूसरा पक्ष है—

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति (ऋ० १।१६४।४६)

चित्तवान् ज्ञानियों की सृष्टि-विषयक बहुविध मीमांसा ही अनेक छन्दों के द्वारा प्रकट की गई है। 'बहुधा' के चक्षुओं को अपने प्रांगण में स्थान देकर दर्शन-शास्त्र ने अपने क्षेत्र को बहुत ही विशाल बना लिया। वेद का यह दृष्टिकोण समस्त भारतीय दर्शन के लिए अमृत की तरह कल्याणकारी सिद्ध हुआ। समस्त जाति की विचार-धारा में इसने सहिष्णुता की छाप लगा दी। सहिष्णुता विश्व का सर्वश्रेष्ठ धर्म है। सहिष्णु राष्ट्र के लिए ही संसार का भविष्य सुरक्षित है। जिनकी पताकाओं पर 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' की उदार घोषणा है, वे ही अरण्य में उगनेवाले वृक्षों की तरह स्वयं पनप सकते हैं एवं औरों को जीवित रहने का अवकाश प्रदान कर सकते हैं।

असत् और सत्, अमृत और मृत्यु, देव और असुर, इस प्रकार के द्वन्द्व वैदिक दर्शन की मानों खूंटियां हैं, जिनपर विचारों के छींके टंगे हुए हैं। सृष्टि का द्वन्द्व और भी अनेक शब्दों में प्रकट हुआ है। अहो-रात्र, द्यावा-पृथिवी, शुक्ल-कृष्ण इसी द्वन्द्व के रूपान्तर हैं। ऋत और सत्य, आभु और अभ्व,[1] (सत् तत्व और जगत्)[1] नाम और रूप में दर्शन का

---

[1] **आभवति इति आभु, जो सब ओर व्याप्त है, अर्थात् ब्रह्म तत्त्व। भूत्वा न भविति इति अभ्वं, अर्थात् जो होकर भी न रहे वह अभ्व है, अर्थात् जगत्। ये दोनों शब्द नासदीय सूक्त के हैं।**

यही द्वन्द्व है। इस प्रकार द्वन्द्व के द्वारा विचार के संतुलन के संभालने की पद्धति वेदकाल से ही भारतीय दर्शन में प्रारम्भ हुई। इन भिन्न-भिन्न ख्यातियों में से किसी एक पर विशेप बल देने के कारण अनेक दार्शनिक मतवादों का जन्म हुआ; किन्तु विवेचना की मूल पद्धति का श्रेय वैदिक दर्शन को ही है।

इन बहुधा मीमांसाओं का एक दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष है। चिन्तन की बहुविधाता ज्ञान को अनेक टुकड़ों में बांटकर चूर-चूर न करदे, इसलिए ज्ञान के ब्राह्म मुहूर्त में ही एक रक्षा-सूत्र का आविर्भाव हुआ कि ब्रह्मतत्त्व केवल एक और अद्वितीय है (एकमेवाद्वितीयम्)। एकत्व के प्रतिपादन और बहुत्व के निराकरण में साहित्यिक शैली का आश्रय लेते हुए ऋषि ने गाया—

देव एक और केवल एक ही है।
इसमें दूसरा, तीसरा, चौथा नहीं।
पांचवां, छठा, सातवां भी कहा जाता नहीं।
आठवां, नवां, दसवां भी कह सकते नहीं।[1]

ब्रह्म की एकता से प्रभावित, ऋषि की वाणी का तेज यहांतक बढ़ा कि अन्त में केवल 'एक, एक, एक' यही शब्द उसके मुख से निकलने लगा।

एष एकः, एक वृद्, एक एव।

वैदिक दर्शन में विश्व के रोम-रोम में ओत-प्रोत संचालक शक्ति और उसके नियमों पर विशेष बल दिया गया है। ये नियम दुर्धर्ष और अखंड माने गये हैं। इनका पारिभाषिक नाम 'ऋत' है। ऋत बृहत् और उग्र कहा गया है। ब्रह्माण्ड में दूर-से-दूर, एवं निकट-से-निकट के सब पदार्थ ऋत के

---

[1] **य एतदेवमेकवृतं वेद।**
न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते।
न पंचमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते।
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते।
(अथर्व० १३। १। १५-१६)

अधीन हैं। हमारी पृथिवी से कोटानुकोटि प्रकाश-वर्षों की दूरी पर स्थित ब्रह्म-हृदय नामक नक्षत्र और इस क्षुद्र पृथिवी को एकता के सूत्र में बांधनेवाला ऋत है। राम-चरित-मानस का एक सुन्दर उपाख्यान ऋत की अखण्ड व्यापकता को बताता है—

"राम से बचने के लिए गरुड़जी अनेक ब्रह्माण्डों का चक्कर काटते हैं, पर सब जगह राम की भुजा उनका पीछा करती है।"

यह समस्त लोकों में एक अखण्ड नियम की व्याप्ति को ही इंगित करता है। वैदिक मत यह है कि ब्रह्म ने अपने मन की शक्ति से ऋत के तंतु का वितान या मापन किया है—

ऋतस्य तन्तुं मनसा मिमानः। (अथर्व० १३।४।६)

ऋत का तन्तु वरुण की माया से सर्वत्र वितत है। धीर अपनी प्रज्ञा के बल से इसतक पहुंचते हैं। ऋत के ध्यान से पाप-भाव नष्ट होते हैं। ऋत के गान से बहरे कान खुल जाते हैं। पृथिवी और आकाश के बीच का भारी अन्तराल ऋत से भरा हुआ है। ऋत की नींव अत्यन्त दृढ़ है।

ऋतस्य दृह्ला धरुणानि सन्ति, (ऋ० ४।२३।६)

ऋत को जानना, ऋत की रक्षा करना और ऋत के अनुसार ऋजु भाव से जीवन व्यतीत करना, यह ज्ञान का ऊंचा आदर्श है। 'ऋतज्ञ' और 'ऋतस्पति' व्यक्ति वैदिक आदर्श के अनुसार अत्यन्त सम्मानित समझे गये हैं। ऋत 'ऋ-गतौ', धातु से बना है। विश्व के सत्य के अनुसार जो गति है वही ऋत है। पृथिवी और सूर्य, ग्रह और नक्षत्र प्रत्येक के लिए एक ऋत नियत है। ऋत के मार्ग पर चलते हुए वे न डरते हैं और न लड़खड़ाते हैं—

न बिभीतो न रिष्यतः

ऋत के साथ गति भाव का विशेष सम्बन्ध है। वैदिक भाषा और विचार-पद्धति दोनों में गति-संचरण, विक्रमण का भाव साधारण रूप से पाया जाता है। गत्यर्थक धातुओं की विशेष संख्या उस युग की निजी विशेषता है। सम्भवतः उषःकालीन प्राण के युग में ऐसा होना स्वाभाविक ही है। तत्त्व के साथ साक्षात् टक्कर लेने का प्रयत्न प्राणवान् दर्शन की विशेषता होती है।

कहीं **सेतूंस्तर, सेतूंस्तर, सेतूंस्तर,** के सामगान में जीवन की प्रगति के लिए पराक्रमशील भाव व्यक्त किये गए हैं; कहीं '**तरत्स मंदी धावति**' के गान में जीवन का वेग प्रकट हो रहा है, आनन्द से भरा हुआ हृदय मानो तैरता हुआ आगे दौड़ रहा है; कहीं इस पार से उस पार कूदकर तत्त्व तक पहुंच जाने की स्कन्दमयी प्रवृत्ति है, कहीं काल-रूपी अश्व पर आरोहण करके उच्चतम जीवन की ओर बढ़ जाने का भाव है और कहीं लोक और परलोक के सभी ऋण-बन्धनों से उऋण होकर पितृयान और देवयान के लम्बे मार्गों को इसी जीवन में पार कर लेने का संकल्प है। वैदिक जीवन शक्तिमत्ता के आदर्श की उपासना करता है। शाक्वरी मंत्र यह कहते हैं कि हम जीवन में जितना कर सकते हैं वही सबकुछ है। केवल विचार जीवन के लिए पर्याप्त नहीं हैं। उन विचारों के अनुसार कर्म कर सकना सफलता की कसौटी है। विचारों से कतराकर निकल जानेवाले उनसे कभी उऋण नहीं हो सकते। विचारों के साथ जूझनेवाले ही उनके साथ न्याय कर सकते हैं, इस प्रकार का दृष्टिकोण वैदिक दर्शन के बहुत निकट है। वैदिक जीवन इसी प्रकार के कर्मण्य और जुझाऊ भावों से अनुप्राणित हुआ था।

वैदिक युग ने समस्त भारतीय दर्शन के लिए विकास का मार्ग निर्धारित कर दिया। उस दर्शन के निर्माता सच्चे अर्थों में हमारी संस्कृति का मार्ग बनानेवाले ऋषि थे जिन्हें वैदिक भाषा में 'पथिकृत्' कहा गया। ज्ञान के पूर्वकालीन पथिकृतों को प्रणाम करना विश्व-सामान्य धर्म है—

इदं नमः ऋषिभ्यःपूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः

(ऋ० १०।१४।१५)।

पूर्वकाल के पूर्वज ऋषियों को प्रणाम हो, जिन्होंने ज्ञान के अरण्य में नई पगडण्डियों का निर्माण किया।

वैदिक दर्शन और अन्य दर्शनों में साहित्यिक शैली की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण अन्तर है। बाद के युग में दार्शनिक विचारों को काट-छांटकर कर्म और व्यवस्था के साथ सजाया गया है। वह एक बाटिका की तरह है। उसके तैयार करने में बड़ा परिश्रम करना पड़ा होगा। बाटिका में क्यारियां अलग-अलग विभक्त, और उनके पौधों का चुनाव भी अलग-अलग रहता है,

किन्तु वैदिक दर्शन कवियों की रचना है; उनकी कविता का ओजायमान प्रवाह वर्षाकालीन झंझावातों के साथ आये हुये पर्जन्यों की तरह बरसता है और उनसे हरेक दिशा में बहिया-सी आई जान पड़ती है।

अन्य दर्शन बुद्धि के लिए और वैदिक दर्शन हृदय के लिए है। बुद्धि बिना जल के भीतर पैठे प्रवाह की मीमांसा कर सकती है, अथवा मधु का स्वाद चखे बिना वह मधु की ऊहापोह करने की अभ्यस्त है। परन्तु हृदय तरंगित जल में तैरना और मधु का स्वाद चखना चाहता है। अन्य दर्शनों की पद्धति मनुष्य के चैतन्य के एक अंश का स्पर्श करती है, वैदिक दर्शन उसके समग्र रूप के साथ तन्मय होने का निमन्त्रण देता है। भविष्य निश्चय रूप से वैदिक दर्शन के हाथ है, क्योंकि उसका सन्देश कविता के द्वारा कहा गया है। बुद्धि से थके हुए मानव की भावी भाषा कविता ही होगी।

: १२ :

वैदिक परिभाषा में शरीर की संज्ञाएं

वेद भारतीय ज्ञान के अक्षय कोष हैं। उनमें क्रांतिदर्शी ऋषियों के अध्यात्म अनुभवों का बहुत ही उत्कृष्ट काव्यमय वर्णन पाया जाता है। उस काव्य की परिभाषाएं अनेक उपाख्यान और सुन्दर रूपकालंकारों द्वारा प्रकट की गई हैं। अध्यात्म-ज्ञानी लोग प्रायः सर्वत्र ही रहस्यपूर्ण अनुभवों को शब्दों में व्यक्त करने के लिए इसी विलक्षण व्यंजनाप्रधान शैली का आश्रय लिया करते हैं। लौकिक काव्य के निर्माता सन्त कवियों ने भी शरीर को चादर, चर्खा, सरोवर आदि अनेक नाम देकर मनोहर रूपकों द्वारा उसका वर्णन किया है। कबीर ने अपने अध्यात्म अनुभवों को व्यक्त करते हुए निम्नलिखित भजन में इसी शैली का अवलम्बन किया था—

झिनि झिनि झीनी बीनी चदरिया।
आठ कमल दस चरखा डोलै पांच तत्त गुन तीनी चदरिया॥
सांई को सियत मास दस लागे ठोंक ठोंक कर बीनी चदरिया।

सो चादर सुर-नर-मुनि ओढ़ी ओढ़िकै मैली कीन्ही चदरिया।
दास कबीर जतन सों ओढ़ी ज्यों-की-त्यों धर दीन्हीं चदरिया॥

यहां शरीर का रूपक चादर की दृष्टि से बांधा गया है। यह देह एक वस्त्र है, जिसके निर्माण में विधाता के बहुत बड़े कौशल का परिचय मिलता है। गीता आदि शास्त्रों में भी इस मानवी देह की तुलना वस्त्रों से की गई है। इस परिभाषा को ठीक न जानकर कबीर के उपर्युक्त पद का कोई भी ठीक अर्थ नहीं जान सकता। उसके तथा अन्य कवियों के सैकड़ों परिभाषात्मक शब्द इसी प्रकार के हैं।

वेद, ब्राह्मण और उपनिषदों में तो इस प्रकार के रूपक और भी अधिक संख्या में पाये जाते हैं। वहां परिभाषाओं के अज्ञान से अर्थों में बहुत अव्यवस्था उत्पन्न हो सकती है। यही कारण है कि अनेक यूरोपीय विद्वान् तथा उनके अर्थ को मानकर चलनेवाले भारतीय पण्डित भी वैदिक मंत्रों के वास्तविक अभिप्राय से कोसों दूर रहते हैं। उदाहरण के लिए 'क्षेत्र' शब्द को ले सकते हैं। अध्यात्म-विद्या के ग्रंथों में 'क्षेत्र' शब्द शरीर का पर्यायवाची माना जाता है। भगवद्गीता में इसी परिभाषा को स्पष्ट कर दिया है—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥

(अ० १३।१)

अर्थात्—हे अर्जुन, यह शरीर क्षेत्र कहलाता है। जो इसे जानते हैं, उन्हें तत्त्वज्ञानी क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

ऋषियों ने अनेक प्रकार से छंदों में इसी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का गान किया है और ब्रह्मसूत्रों में भी हेतुवाद की दृष्टि से इसी विचार का निश्चय किया गया है।

पृथिवी आदि पांच स्थूल महाभूत, अहंकार, बुद्धि (महत्त्व) अव्यक्त (प्रकृति), दस (सूक्ष्म) इंद्रियां और एक मन, इंद्रियों के पांच विषय इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना अर्थात् प्राण-व्यापार और धृति, इस समुदाय को सविकार क्षेत्र कहते हैं।

इस प्रकार गीता-शास्त्र ने युक्ति और विस्तार से शरीर की क्षेत्र-संज्ञा का निरूपण किया है। लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का यह विचार वस्तुतः इससे भी बहुत पूर्वकाल का था—ब्रह्मसूत्र के दूसरे अध्याय में, तीसरे पाद के पहले सोलह सूत्रों में क्षेत्र का विचार और फिर उस पाद के अंत तक क्षेत्रज्ञ का विचार किया गया है। ब्रह्मसूत्र में यह विचार है, इसलिए उन्हें शारीरक सूत्र अर्थात् शरीर या क्षेत्र का विचार करनेवाले सूत्र भी कहते हैं (गीता-रहस्य पृ० ७८३)।

वैदिक मंत्रों में भी क्षेत्र शब्द इस अध्यात्म अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद में कहा है—

स्वे क्षेत्रे अनमीवा विराज

अर्थात्—अपने क्षेत्र में अनामय होकर रहो। यह क्षेत्र किसी भी दैहिक या अध्यात्म-व्याधि से क्लिष्ट न हो। दैहिक, दैविक, भौतिक ताप ही अमीव या व्याधियां हैं, जिनसे क्षेत्रज्ञ या प्राणी संतप्त रहते हैं। तुलसीदासजी ने कहा है—

दैहिक दैविक भौतिक तापा।
राम राज नहिं काहुहि व्यापा॥

इस व्याधि-शून्य स्थिति को जब मनुष्य प्राप्त कर लेता है तभी वह अनमीव क्षेत्र में समाधि की ओर अग्रसर होता है।

एक अन्य स्थान पर कहा है—

शन्नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शम्भुः। अथर्व० १९।१०।१०

अर्थात्—हमारे क्षेत्र का स्वामी या क्षेत्रपति शम्भु या कल्याणकर हो। यह क्षेत्रपति क्षेत्रज्ञ ही है। नित्यप्रति सब मनुष्यों का यही शिव-संकल्प होना चाहिए कि हमारा क्षेत्रपति शम्भु हो और हमारा क्षेत्र निरामय और निर्विकार रहे।

ऋग्वेद के एक मंत्र में 'क्षेत्र' शब्द अपने अध्यात्म अर्थ में बहुत ही स्पष्टता के साथ प्रयुक्त हुआ है—

अक्षेत्र वित्क्षेत्रविदं ह्यप्राट्
स प्रैति क्षेत्र विदानुशिष्टः।

एतद्वै भद्रमनुशासनस्थो
त स्तुतिं विदत्यंजसीनाम् ।। मं० १०।३२।७ ।।

अर्थात्—अक्षेत्रविद् क्षेत्रविद् से अध्यात्म ज्ञान के विषय में प्रश्न करता है। वह ज्ञानी क्षेत्रज्ञ उस आत्म-विद्या में उसका अनुशासन करता है। उसका उपदेश दोनों के लिए कल्याणकारी होता है, जिससे सर्वत्र उनकी प्रशंसा होती है।

गीता का क्षेत्रज्ञ ही ऋग्वेद का क्षेत्रविद् है—

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।।

बौद्ध ग्रंथों में आया है कि भगवान् बुद्ध ने भी एक बार भारद्वाज ब्राह्मण से, जो खेती करता था, आध्यात्मिक कृषि का निरूपण किया था। उसमें श्रद्धा बीज, तप वृष्टि और प्रज्ञा हल है। काय-संयम, वाक्-संयम और आहार-संयम कृषि-क्षेत्र की मर्यादाएं हैं। पुरुषार्थ बैल है, मन जोत है। इस प्रकार की कृषि से अमृतत्त्व का फल मिलता है —

एवमेसा कसी कट्ठा सा होति अमतप्फला ।
एतं कसी कसित्वान सब्ब दुक्खापमुच्यति ।।

पाणिनि के 'क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः' (५।२।९२) सूत्र में पर-क्षेत्र का अर्थ जन्मान्तर या शरीरान्तर लिया गया है। कालिदास आदि कवियों ने भी क्षेत्र शब्द को अध्यात्म अर्थ में प्रयुक्त किया है—

योगिनो यं विचिन्वन्ति क्षेत्राभ्यंतर वर्तिनम् ।
अनावृत्तिमयं यस्य पदमाहुर्मनीषिणः ।।

अथवा—

यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानामत्मन्यवलोकयंतम् (कुमारसंभव ३।५०)

वैदिक साहित्य में शरीर की एक संज्ञा रथ भी है। यजुर्वेद के मंत्रों में देवरथ का वर्णन किया गया है—

इन्द्रस्य वज्रो मरुतामनीकं
मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः
सेमां नो हव्यदातिं जुषाणो ।
देव रथ प्रतिहव्या गृभाय (१९।५४)

अर्थात्—हे दिव्य रथ! तुम इन्द्र के वज्र, मरुद्गण या प्राणों के मुख, मित्र के गर्भ और वरुण की नाभि हो। तुम प्रीतिपूर्वक हमारी हवियों को स्वीकार करो। दूसरे मंत्र में रथ के रूपक का और भी स्पष्टता से वर्णन है—

रथे तिष्ठन्नयति वाजिनः पुरो
यत्र यत्र कामयते सुषारथिः
अभीषूनां महिमानं पनायत
मनः पश्चादनु यच्छन्ति रश्मयः॥ (यजु० १९।४३)

अर्थात्—सुन्दर सारथि रथ में बैठकर जहां-जहां चाहता है, घोड़ों को हांक ले जाता है। उन बाग-डोरों की महिमा को देखो जिनको संकल्पवान् मन प्रेरित कर रहा है।

यजुर्वेदीय कठोपनिषद् में शरीर और रथ के रूपक की इस प्रकार व्याख्या पाई जाती है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्
आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः

अर्थात्—शरीर-रूपी रथ में आत्मा रथी है, बुद्धि सारथि है, मन लगाम है, इंद्रियां घोड़े और विषय उनके विचरने के मार्ग हैं। इंद्रिय और मन की सहायता से आत्मा भोग करनेवाला है। जो प्रज्ञा-सम्पन्न होकर संकल्पवान् मन से स्थिर इंद्रियों को सुमार्ग में प्रेरित करता है वही मार्ग के अंत तक पहुंचता है, जहां से फिर आने-जाने का प्रपंच नहीं रहता। विज्ञानवान् होने के लिए वेद के शब्दों में सदा यही शुभ कामना करनी उचित है कि हे इन्द्र, सदा हमारे रथी, विजयशील होवें।

अस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु

—रथ में बैठनेवालों की कभी पराजय न हो।

इंद्रियों के देवासुर-संग्राम में उनकी विजय की दुंदुभी बजती रहे। अथर्ववेद में इस शरीर को देवपुरी कहा गया —

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या
तस्यां हिरण्ययः कोषः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ।

अर्थात्—यह शरीर आठ चक्र और नौ (इंद्रिय) द्वारों से युक्त देव-पुरी अयोध्या है । इसमें ज्योति से पूर्ण स्वर्ण का कोष (मस्तिष्क) है, जिसे स्वर्ग कहते हैं ।

मस्तिष्क को घट या स्वर्ग कहा गया है । वैदिक परिभाषा में मस्तिष्क को सोमपूरित द्रोण कलश या अमृत कुम्भ कहा है । कालिदास ने भी मन को नव द्वारों वाला कहा है—

मनो नवद्वारनिषिद्ध वृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम् ।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मान्य वलोकयंतम् ।।

अर्थात्—शिवजी नवों इंद्रिय-द्वारों से बाहर विचरनेवाली चित्त-वृत्तियों का निरोध करके समाधिवश्य मन की स्थिति से अक्षर ब्रह्म का आत्मा में ही दर्शन कर रहे थे ।

इन नौ द्वारों में एक और विदृति द्वार जोड़ देने से कहीं-कहींपर दस द्वारों की गणना की जाती है—

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत
सैषा विदृतिर्नाम द्वाः (ऐ० उ० १।१३।१२)

अर्थात्—कपालों के ऊपर जो जोड़ है वही सीमा है । उस सीमा को विदीर्ण करके आत्मा ने शरीर में प्रवेश किया । इसीलिए वह द्वार विदृति द्वार कहलाया ।

जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण में लिखा है—

तं वागेवभूत्वाऽग्निः प्राविशन्मनोभूत्वा चन्द्रमाश्चक्षुर्भूत्वाऽऽदित्य श्श्रोत्रम्भूत्वा दिशः प्राणो भूत्वा वायुः । एषा दैवी परिषद्, दैवो सभा, दैवी संसत् । (जै० उ० २।११।१२-१३)

(१) दैवी परिषद्, (२) दैवी सभा, (३) दैवी संसद् ।

क्योंकि इसमें निम्न देवताओं का वास है—

अग्नि—वाक्	मुख
चन्द्रमा—मन	हृदय

आदित्य—चक्षु अक्षि
दिशाएं—श्रोत्र कर्ण
वायु—प्राण नासिका

ऐतरेय उपनिषद् के अनुसार इतने देवता और हैं—

ओषधि वनस्पति—लोम	त्वचा
मृत्यु—अपान	नाभि
जल—रेत	शिश्न

इन देवताओं और उनके स्थानों की संज्ञा लोकपाल और लोक भी है। समस्त देवों का वास-स्थान मनुष्य के मस्तिष्क-रूपी स्वर्ग में है। अथर्ववेद के अनुसार मस्तिष्क का विलक्षण नाड़ी-जाल अश्वत्थ वृक्ष है, जिसपर देवों का वास है—

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्या मितो दिवि (अथर्व० ६।९५।९)

मस्तिष्क ही स्वर्ग या ज्योतिषावृत द्युलोक है। पृथिवी, अंतरिक्ष और द्युलोक की गणना में द्युलोक तीसरा है। उसमें देवसदन अश्वत्थ है। जितनी इन्द्रियां हैं, सबके संज्ञा-केन्द्र मस्तिष्क में ही हैं। उस अश्वत्थ के प्रत्येक पत्ते पर देवों का वास है। मस्तिष्क में सर्वत्र संज्ञान केन्द्र (Sensoary and motor centres) फैले हुए हैं।

देवपुरी के साथ ही इस देह को ब्रह्मपुरी भी कहा गया है। अथर्ववेद के ब्रह्म प्रकाशी सूक्त (१०।२) में शरीर की रचना का और अध्यात्म शास्त्र में उसकी विविध परिभाषाओं का बहुत ही सुन्दर विवेचन है। एक मंत्र में सिर की संज्ञा देवकोष है—

तद्वा आथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जित।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः॥ (१०।२।२७)

अर्थात्—इस देह में अथर्वा-निर्मित मस्तष्क-रूपी देवकोश है। मन, प्राण, वाक् (अन्न) उसकी रक्षा करते है। मन, प्राण, वाक्, अथर्वा ये सब भी वैदिक परिभाषाएं हैं, जिनके अर्थ का विस्तार शतपथादि ब्राह्मणों में पाया जाता है। संक्षेप में, मन अव्यय पुरुष, प्राण अक्षर पुरुष और वाक् या अन्न क्षर पुरुष की संज्ञाएं हैं, जिनका समन्वय मनुष्य-देह में पाया जाता है।

इसी सूक्त के अन्य मंत्र भी उल्लेख-योग्य हैं—

पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥२८॥
यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरीम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥२६॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ ३०॥

प्राची-प्रतीची, दक्षिणोदीची, ऊर्ध्वा-ध्रुवादिक जितनी दिशाएं हैं, सब पुरुष के भीतर हैं,यह ब्रह्मपुरी है इसमें वास करने के कारण वह ब्रह्म पुरुष (=पुरिशय) कहलाता है। अमृत से घिरी हुई यह ब्रह्मपुरी है (इस मर्त्य-पिण्ड को सब ओर से अमृत ने व्याप्त कर रखा है)। जो इसे जानता है, उसके चक्षु और प्राणों की कभी हानि नहीं होती।

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्॥
पुरं हिरण्मयीं ब्रह्माविवेशा पराजिताम्॥३३॥

अर्थात्—चारों ओर जिसका यश वितत है, अतिशय भ्राजमान और तेजोमय जो पुरी है, उस अपराजिता नगरी में ब्रह्म ने प्रवेश किया है।

इन अलंकार-प्रधान वर्णनों के अभ्यंतर में भारतीय अध्यात्म ज्ञान के रहस्य छिपे हुए हैं। साहित्य में रहस्य-वर्णन की शैली का पुराकाल से ऐतिहासिक अन्वेषण करने के लिए इन वैदिक परिभाषाओं का ज्ञान परमावश्यक है, क्योंकि परवर्ती कवियों ने इन परम्पराओं का अपने काव्यों में सन्निवेश किया है। अध्यात्म कवियों की काव्य-परिपाटी को सहृदयता के साथ समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम स्थूल वर्णनों के मूल में निहित परोक्ष अर्थों को यथार्थ रीति से जानें। ध्रुव लोक, कैलास, मानसरोवर, गंगा-यमुना, त्रिकुटी संगम, हंस, षट्कमल, मेरु, गगन-मण्डल, तीन लोक, सप्त सागर आदि अनेक शब्दों का स्वच्छन्द प्रयोग हिन्दी के अध्यात्म-प्रधान काव्य-ग्रंथों में अनेक बार किया गया है। यदि हम इन शब्दों के स्थूल अर्थों को ग्रहण करने का आग्रह करें तो कवि का रहस्य-अर्थ कभी नहीं मालूम हो सकता और न कविता का ही सुसंगत अर्थ लग सकता है। जायसी ने कहा है—

चौदह भुवन जो तर उपराहीं।
ये सब मानुष के तन माहीं ॥

हिन्दी कवियों ने जहां मनुष्य की वाक् की मुरली-ध्वनि से उपमा दी है वहां वैदिक साहित्य में इसका रूपक देव-वीणा से बांधा गया है। यह शरीर सामान्य वीणा नहीं है। यह दैवी वीणा है। इसके स्वरों में देवों का संगीत है। जो कुशलता से इस वीणा को बजाता है, उसके कल्याण-प्रद स्वर दूर-दूर तक व्याप्त हो जाते हैं, उसके माधुर्य से सब मुग्ध हो जाते हैं। ऋग्वेद के शांखायन आरण्यक में इस रूपक का विस्तार के साथ वर्णन पाया जाता है—

अथ इयं दैवी वीणा भवति, तदनुकृतिरसौ मानुषी वीणा भवति।

कवि दोनों में निम्नलिखित सादृश्य देखता है—

दैवी वीणा	मानुषी वीणा
शिर	सिरे का भाग
पृष्ठ वंश	पृष्ठ दण्ड
उदर	अम्भरण या नीचे का भाग
मुख, नासिका, चक्षु	छिद्राणि
अंगुलियां	तंत्री
जिह्वा	वादन
स्वर	स्वर

आगे कवि ने कहा है—

सा एषा ैवी वीणा भवति। स य एवमेतां दैवीं वीणां वेद श्रुतवदनतमो-भवति, भूमौ चास्य कीर्तिर्भवति, शुश्रूषन्ते ह्यस्य पर्षत्सु भाष्यमाणस्य--'इदमस्तु, यदयमीहते'। यत्रार्यावाचं वदन्ति विदुरेनं तत्र ॥

अथातः तार्णबिन्दवस्य वचः। तद्यथा—इयमकुशलेन वादयित्रा वीणाऽऽरब्धा न तत्कृत्स्नं वीणार्थं वागर्थं साधयति। तद्यथा हैवेयं कुशलेन वादयित्रा वीणारब्धा कृत्स्नं वीणार्थं साधयत्येवमेव कुशलेन वक्त्रा वागारब्धा कृत्स्नं वागर्थं साधयति

(शांखायन आरण्यक ८।९)

अर्थात्—जो इस दैवी वीणा को बजाना जानता है, उसकी वीणा के स्वर सुनने योग्य होते हैं। जब परिषदों में वह बोलने के लिए खड़ा होता है, सब लोग उसे सुनने के लिए सावधान हो जाते हैं, और कहते हैं कि जो इसका संकल्प है, वही हमें स्वीकार है। जहां आर्य लोग तत्त्वों का विचार करने बैठते हैं, वहीं उसका स्मरण होता है।

तार्णबिन्दव आचार्य का अनुभव है कि जैसे कुशल वादक वीणा में से अनन्त स्वर-माधुर्य उत्पन्न करता है, वैसे ही वाक् रूपी वीणा का कुशल प्रयोक्ता वाणी के द्वारा अनन्त अर्थों की सिद्धि करता है। उसके स्वर-सामंजस्य से सब मुग्ध हो जाते हैं, वह जिस नवीन संगीत की तान छेड़ता है, उसको सारा राष्ट्र चकित होकर सुनता है। सचमुच लोकमान्य महात्माओं की वाक् की महिमा की कोई इयत्ता नहीं है।

भवसागर को पार करने के लिए मानुषी शरीर एक सुघटित नाव है। कितने ही इसपर चढकर दुस्तर भवसागर के पार चले जाते हैं, कितने ही बीच में ही रह जाते हैं। निम्नलिखित सुन्दर मंत्र में इसी दैवी नाव का वर्णन है—

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं
सुशर्माणिमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रा मनागसो,
अस्रवन्तीमारुहेमा स्वस्तये॥ (अथर्व० ७।६।३)

अर्थात्—हम लोग स्वस्ति तक पहुंचने के लिए इस दैवी नाव पर आरूढ़ हैं। यह नाव अस्रवन्ती है, कहीं से रिसती नहीं। स्वरित्रा है, इसमें इन्द्रिय-रूपी बड़े सुन्दर डांड लगे हुए हैं। सुप्रणीति अर्थात् सुघटित है। इसके निर्माण-कौशल का क्या ठिकाना है? यह अदिति है, अखंडनीया तथा देवों की जननी है। सुशर्मा अर्थात् सुप्रतिष्ठित प्राण से सम्पन्न है। सुत्रामा इन्द्र की यह नाव है। इसमें पृथिवी से द्युलोक तक की समस्त रचना है।

ऐसी नाव पर चढ़नेवाले यात्री का अनागस् अर्थात् समस्त पापों से रहित होना सबसे बड़ी शर्त है। शुनःशेप ने वरुण से यही प्रार्थना की है—

उद्वुत्तमं वरुण पाशमस्म-
दवाधमं वि मध्यमं श्रथाय ।
अथा वयमादित्य व्रते तवा-
नागसो अदितये स्याम ॥

—हे वरुण, हमारे समस्त उत्तम, मध्यम, अधम पाशों को शिथिल करो। हे आदित्य, तुम्हारे व्रत में अनागस् (पापरहित) रहकर हम अदिति-स्थिति को प्राप्त हों।

: १३ :

लोमश

अनंतकाल की सान्त अभिव्यक्ति के लिए भारत के पुराण-निर्माता कलाकोविदों ने लोमश ऋषि की कल्पना की। संसार के किसी कलाविद् की समझ में यह बात नहीं आई है कि असंख्य परार्ध्ययुग-युगान्तरों में व्याप्त होनेवाले काल को किस प्रकार मूर्तिमान करके कला के ऋण से उऋण हुआ जाय। अचिन्त्य भावों को परिभाषा के द्वारा दर्शनार्ह बनाकर मानवी जीवन को सुन्दर बनाने का जैसा सफल प्रयास पुराणों ने किया है वह अनन्य सुलभ है। सहस्रशीर्षा पुरुष जिसकी महिमा वेदों ने पुरुषसूक्त के '**सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्**' आदि मन्त्रों में गाई है और जिसके लिए कहा जाता है कि उसके अनन्त फण-विस्तार पर यह ब्रह्माण्ड एक छोटे सकोरे के सदृश है, शेषशायी विष्णु के रूप में कल्पित किया गया है। उसी प्रकार अनन्त समय, जिसके एक रोम में ही सृष्टि और प्रलय समाये हुए हैं, लोमष ऋषि के रूप में कला के क्षेत्र में अवतीर्ण हुआ है। देश और काल (टाइम-स्पेस) के ताने-बाने में ही सब विश्व समाये हुए हैं। आधुनिक विज्ञान ने सभ्यता के देश-काल-विषयक भावों को बहुत परिमार्जित और उपबृंहित किया है। काल के विषय में लोगों की चार सहस्र वर्ष परिमित धारणा को उन्मूल करके आधुनिक भूगर्भ-शास्त्र और रेडियम के विज्ञान ने अरबों वर्षों में परिणत कर दिया है। समस्त

अर्वाचीन वैज्ञानिक एक स्वर से पृथिवी की आयु को दो अरब (२००० मिलियन) वर्ष के लगभग घोषित कर रहे हैं। हर्ष की बात है कि आर्यों के सृष्टि-संवत्सर की अवधि (१९७२९४९०३०) भी यही है। इतने बड़े समय-परिच्छेद में इस भूमि पर स्थित भूतों की महिमा समाई हुई है, परन्तु सौरमण्डल और सृष्टि तथा प्रलय के चक्रों को सन्तुष्ट करने के लिए तो और भी अनन्त काल-परिमाणों की आवश्यकता है। इस प्रकार विज्ञान ने हमारी काल-विषयक धारणा को पहले की अपेक्षा बहुत परिवर्तित एवं परिवर्द्धित भी किया है। पर प्रश्न यह है कि क्या अर्वाचीन सभ्यता का यह काल-सम्बन्धी भाव केवल विज्ञान और दर्शनों के ग्रन्थों तक ही सीमित रहेगा ? जिन सत्यों का उद्घाटन करने में विज्ञान-जगत् के सर्वोत्तम मस्तिष्कों ने प्राणपण से चेष्टा की है, जिसके ऊपर सभ्यता को गर्व है, जिसको उन्नति की कसौटी समझा जाता है, क्या सर्वसाधारण उस ज्ञान-निधि से सदा वंचित रहेंगे ? विज्ञान के इस अपार परिश्रम से उनके जीवनों का नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य किस प्रकार बढ़ाया जा सकता है ? क्या काल-विषयक भाव के इस परिमार्जित संस्करण से प्रजातन्त्र के जीवन को भी चैतन्यता मिल सकती है ?

यह प्रश्न सब देशों के कलाकारों के समक्ष है। वैज्ञानिकों ने सत्यान्वेषण का अपना काम कर दिया। परन्तु उस निरपेक्ष सत्य को मानवी जीवन से सम्बद्ध करने का काम दार्शनिक, कवि और कला के पुजारियों का है। विज्ञान के देश-काल-सम्बन्धी अनुसंधानों को अपने शास्त्र में स्वीकृत कर लेने का काम सर्वप्रथम दार्शनिक कर रहे हैं। आधुनिक तत्त्वज्ञान के सब विमर्षों की आधार-शिला बीसवीं शताब्दी के देश-काल-सम्बन्धी वैज्ञानिक अन्वेषण हैं। उनसे व्यपेत रहकर कोई भी अर्वाचीन दर्शन चल ही नहीं सकता। यद्यपि दर्शन ने विज्ञान के समकक्ष रहने का प्रयास किया है, परन्तु काव्य और कला की इस विषय में अभी मन्थर गति है। कविता और कला के निर्माताओं का भी कर्तव्य है कि वे आधुनिक देश-काल के समीकरण द्वारा व्युत्पादित सृष्टि, स्थिति और प्रलय-सम्बन्धी सिद्धान्तों का उपयोग अपनी अमर कृतियों में कौशल के साथ करें। निरपेक्ष सत्यों को सापेक्ष परिधान पहनाने का पुनीत कर्त्तव्य काव्य और कला

के लिए ही सुरक्षित है। सदा से यही होता आया है। देश और काल-सम्बन्धी जिन गम्भीर तत्त्वों को आर्य ऋषियों ने वैज्ञानिक स्फूर्ति से अवगत किया था उनको, सार्वजनिक रूप देने का काम पुराण-लेखकों ने किया। वेदों के सहस्र-शीर्षा-पुरुष को सर्वसाधारण किस प्रकार समझते यदि पुराणों में शेषशायी विष्णु का जन्म न होता? इस कलात्मक सामग्री को पाकर कवि और चित्रकार फूले न समाये। क्षीरसागर में अनन्तसंज्ञक शेष की शय्या पर सोनेवाले विष्णु को यथार्थ रीति से जानने के लिए आर्यों के देश-सम्बन्धी सब सिद्धान्तों का वैज्ञानिकों को ज्ञान होना आवश्यक है। उन अप्रमेय और अचिन्त्य भावों को कवियों ने अपने काव्यों में विष्णु का वर्णन करके और कला-विज्ञों ने शेषशायी विष्णु की प्रतिमाओं और चित्रों का निर्माण करके सबके लिए सुलभ कर दिया है। आधुनिक ज्योतिष के ग्रंथों में ब्रह्माण्ड की अनन्तता का सविस्तर वर्णन है, पर कला में उसे प्रकट करने का एक भी साधन वहां के लोगों के हाथ नहीं आया है। शेषशायी विष्णु के रूप में प्रकट हुई त्वष्टा की अनन्त कृति भारतवर्ष के लोगों के धार्मिक जीवन में ओत-प्रोत हो गई है।

देश के तुल्य ही काल-विषयक विचार भी सभ्यता के विविध जीवन के मूल स्तम्भ माने जाते हैं। हमारे अनुभव में आनेवाले काल का प्रतिनिधि सूर्य है। वही हमारे लव निमेष वर्ष-युगों का विधाता है। इस आदित्य का ज्ञान सब देशों के वासियों का होता है; पर इस ज्ञान का कलात्मक अवतार करने में जो सफलता भारतवर्ष के विद्वानों को प्राप्त हुई, वह और किसी को नहीं मिली। यहां के लोग सूर्य को एक श्वेत गोले के रूप में ही चित्रित करके शान्त नहीं रहे। वस्तुतः सूर्य का वह रूप नितान्त कला-शून्य है। कला की परिभाषा में सूर्य भगवान् अरुण को सारथी बनाकर एक चक्रवाले रथ पर, जिसमें सप्तरश्मियों में सप्ताश्व जुड़े हुए हैं, तेज से दिग्दिगन्त को आलोकित करते हुए व्योम की परिक्रमा करते हैं। विज्ञान-सम्मत सूर्य की रश्मियों में छिपे हुए सप्त रंगों का ज्ञान आर्य वैज्ञानिकों को था; परन्तु कला के लिए उसी भाव की अभिव्यक्ति सप्ताश्व रथ के रूप में हुई। एक पहियेवाले रथ में कितना,सूक्ष्म रहस्य है? जिस रथ में सिर्फ एक ही चक्र है, वह कभी खड़ा नहीं हो सकता। सूर्य की गति भी

संतत है, उसमें क्षणभर के लिए भी स्थाणुता नहीं आती। काल के संतत प्रभाव को चरितार्थ करने के लिए रथ में एक ही पहिया लगाया गया है। गति-शास्त्र के नियमों के अनुसार एक चक्रवाला रथ जितने तीव्र वेग से चलेगा उतना ही उसका लंगर स्थिर हो सकेगा। सूर्य के इस रूप की उपासना में अनेक स्तोत्रों की रचना की गई है। कितनी ही प्रतिमाओं में ये भाव प्रकट किये गए हैं। सूर्य से नियन्त्रित होनेवाले काल के अतिरिक्त समय का एक दूसरा रूप भी है, जिसमें अनन्तता की मुहर है। यह काल-सृष्टि का विधाता कहा गया है। श्वेताश्वर उपनिषद् में सृष्टि के अनेक कारणों की गिनती करते समय काल का सर्वप्रथम वर्णन किया गया है।

यद्यपि इस उपनिषद् के ऋषि का यह सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि उसने दैवात्मशक्ति को मुख्य कारण कहा है; तो भी यह एक दार्शनिक मत था, इसमें सन्देह नहीं। गीता (८। १७) और मनुस्मृति में अहोरात्रविद् जनों का वर्णन है। ये लोग काल-सम्बन्धी दार्शनिक और वैज्ञानिक मतों के पण्डित थे। नासदीय सूक्त में भी विविध मतों का परिगणन करते समय अहोरात्रवाद का संकेत किया गया है। अथर्ववेद के उन्नीसवें काण्ड में काल को सृष्टि और वेदों का कारण बतानेवाले दो सूक्त हैं। उनमें काल का वर्णन इस प्रकार है—

काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्।
कालो ही सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः ॥१६।५३।८
तेनेषितं तेन जातं तदुतस्मिन् प्रतिष्ठितम् ॥६॥
कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम्।
स्वयम्भूः कश्यपः कालात् तपः कालादजायत ॥१०॥

अर्थात्—काल सबका ईश्वर और प्रजापति से भी आगे रहनेवाला उसका पिता है। स्वयम्भू ब्रह्मा और कश्यप प्रजापति भी काल से उत्पन्न हुए। यदि तप को सृष्टि का आदि कारण कहें (**ऋतं च सत्यं चा भीद्धात्तपसोऽध्यजायत**) तो काल तप से भी असंख्य गुना महान् है। काल ने समस्त ब्रह्माण्ड को इषणा शक्ति प्रदान की है, उसीकी धुरी के बल पर सबकुछ टिका हुआ है।

उपरोक्त वेद के तीन सूक्तों में दर्शन-शास्त्र के काल-सम्बन्धी अनेक सिद्धान्तों का समावेश किया गया है, जिनकी परिगणना अहोरात्रवाद दर्शन में की जाती थी। पर प्रश्न यह है कि इस प्रकार के निरपेक्ष काल का बुद्धि-गम्य परिचय किस प्रकार कराया जा सकता था? वैज्ञानिक-प्रवर आइन्स्टीन का मत है कि समस्त भूतों की सृष्टि में यद्यपि काल एक प्रधान कारण है तो भी विश्व में आजतक कोई ऐसा नहीं जन्मा जिसने काल को देखा हो। हम लोगों का काल के साथ कुछ परिचय नहीं है। किसी वस्तु के आकाश में घूमने से हम काल को नाप भर सकते हैं। बस ये ही हमारे लव निमेष, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, संवत्सर, युग और कल्प हैं। इन्हीं-को निरपेक्ष काल का प्रतिनिधि कहा जाता है। परन्तु ये परिमित अवधि-वाले काल-परिमाण अनन्त काल का परिचय कराने में नितांत अशक्त है। उसके लिए लोमश ऋषि की कल्पना की गई है। यदि किसीको यह रहस्य बताना हो कि काल की अनन्तता का स्वरूप क्या है, कितने सर्ग और प्रलय उस काल की कुक्षि में समाये हुए हैं, प्रलय के विघटन में जब परमाणु और महत्तत्व सब हीवि शीर्ण हो जाते हैं, तब काल किस तरह स्थिर रहता है तथा ब्रह्मा आदि अनादि भावों का भी विधाता काल किस प्रकार का है, तो उसे लोमश ऋषि की कथा का रहस्य समझाना पर्याप्त होगा। कहा जाता है कि लोमश ऋषि के शरीर में लोम ही प्रधान हैं। उनके एक रोम में एक-एक कल्प छिपा हुआ है। वे काल के प्रतिनिधि लोमश ऋषि अखण्ड समाधि में बैठे हुए जब एक ब्रह्मा का अन्त सुनते हैं तब अपने एक रोम को उखाड़कर फेंक देते हैं; अर्थात् ब्रह्मा की सौ वर्ष की आयु क्षीण होने पर लोमश का केवल एक रोम काल-परिच्छिन्न होता है। लोमश न जाने कितने ब्रह्माओं का अन्त देख चुके हैं। वे सनातन हैं; ब्रह्मा पुरातन हो जाते हैं। ब्रह्मा की आयु ही हमारे गणित की सामान्य परिसंख्याओं से प्रतीत है; क्योंकि ब्रह्मा के एक दिन में एक कल्प और एक रात में एक प्रलय होती है। इस प्रकार सौ वर्ष की आयु में कितने प्रलय और सर्ग उतर जाते हैं, इसका आभास भी हमारे मन को वैज्ञानिक रीति से नहीं हो सकता। पर ये सब वैज्ञानिक सत्य हैं जिन्हें बुद्धि स्वीकार करती है। हां, कुछ अर्वाचीन वैज्ञानिक ऐसे भी हैं जो काल

की इस विशालता से घबराकर अपना गांडीव रख देते हैं। उनकी समझ में यह नहीं आता कि इस प्रलय के बाद फिर सृष्टि को सत्ता में लानेवाला कौन-सा कारण होगा। विज्ञवर जीन्स का मत है कि अगली सृष्टि के लिए प्रकृति से बाहर का कोई कारण मानना ही पड़ता है। मनु ने इस विप्रत्तिपत्ति का अन्त '**कालं कालेन पीडयन्**' कहकर किया था। निष्कर्ष यह कि जब ब्रह्मा का भाव ही इतना अगम्य है तो लोमशात्मक काल का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है। उस काल का ज्ञान कराने में पुराणों ने,काव्यों ने और कला ने हमारी सहायता की है। पुराणों की लोमश-कथा कला की परिभाषाओं की सृष्टि है, जिससे अचिन्त्य भावों का मूर्तिमन्त दर्शन कराया जा सके।

लोमश में ब्रह्मा के पुत्र का उपचार है, क्योंकि वे ब्रह्मा के देहावसान के बाद भी जीवित रहते हैं। अपने पूर्व पुरुष की श्रद्धायुक्त स्मृति में लोमश का एक रोम जीर्ण होता या विपरिणाम को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि अगणित कल्पों का विपरिणाम ब्रह्मा की एक आयु का जठरपन है, और वह भी लोमश के केवल एक रोम या रोएं को ही स्पर्श कर पाता है। काल का स्वभाव इतना विपरिणाम-शून्य है! ऐसा काल वस्तुतः ब्रह्म का तादात्म्यवाची है। वह निरपेक्ष है। अनन्त कल्पों को उसके केवल एक रोम से संस्पृष्ट करके निरपेक्षता में सापेक्षता का भाव किस कौशल के साथ सन्निविष्ट हुआ है ? शेष के अनन्त फन-विस्तार पर समस्त ब्रह्माण्ड एक बिन्दु के सदृश और लोमश के अनन्त रोमों में अगणित कल्प-सम्मित काल केवल एक रोएं के तुल्य—कितने कौशल से देश-काल के अतर्क्य भावों को प्रज्ञात की कोटि में लाया गया है ? जो लोग एक सृष्टि के बाद दूसरी सृष्टि की कल्पना करने में ही चकरा जाते हैं, उनके क्षुल्लक विचारों की तुलना में ऋषियों के मस्तिष्क कितने ऊर्जित और बल-सम्पन्न थे! उनकी विचार-प्रचण्डता कितनी बढ़ी थी !

स्वयंभू ब्रह्मा में बृंहण तत्त्व प्रधान है, क्योंकि वे विष्णु की नाभि से उत्पन्न हैं। ब्रह्मा और विष्णु दोनों का ही सम्बन्ध देश से है, ब्रह्मा-संज्ञक महत्तत्त्व के कारण ही ब्रह्माण्ड का विस्तार है। वैज्ञानिक बताते है कि मैटर में सान्द्रता नहीं है। परमाणु की कुक्षि में स्थित शून्य-प्रदेश सौरमण्डल के

शून्य भाग से भी अपेक्षाकृत बड़ा है। परमाणुओं की उस गर्भित दशा में यदि शून्य-प्रदेश न हो तो आध इंच बड़ी सोने की डली का वज़न कोई तीस लाख टन होगा। यह ब्रह्माण्ड भी पहले इसी गर्भित अवस्था में था जिसके कारण ब्रह्मा की संज्ञा हिरण्यगर्भ थी। परन्तु ब्रह्मा के जन्म के बाद हिरण्य-गर्भ को विराट् अवस्था में आना पड़ता है। जिस समय महाप्रलय में सृष्टि फिर अपने कारण में विलीन हो जायगी और ब्रह्मा-बृंहणतत्त्व का लोप हो जायगा उस समय भी लोमश की सत्ता अविच्छिन्न रहेगी। इसीलिए लोमश में ब्रह्मा के पुत्रत्व की कल्पना है। देश और काल के पारस्परिक सम्बन्ध को बताने के लिए पिता-पुत्र का भाव एक विलक्षणता मात्र है।

अपने पूर्वपुरुषाओं की इस कलात्मक सामग्री की रक्षा करना हमारा परम कर्त्तव्य है। वर्तमान युग के चित्रकार और तक्षकों को उचित है कि लोमश के तत्त्व को समझकर उसका कलात्मक रूप जनता के सामने रक्खें। जो चित्रविद् सर्वप्रथम सफलतापूर्वक लोमश के व्यूहनात्मक लोकों का चित्रण करके अनन्त काल के चित्र को सामने रखने का पुण्यलाभ करेगा, उसकी कीर्ति अमर हो जायगी। इस युग में संस्कृति के क्षेत्र में कला को विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ है। संस्कृति के पुनरुज्जीवन के साथ कला को भी अभ्युत्थान मिल रहा है। उसमें हम नवीन कल्पनाओं के साथ ही पुराणों के प्राचीन परन्तु अमर कलात्मक भावों को फिर से देखना चाहते हैं। शेषशायी विष्णु, लोमश, गरुड़, अरुण, शिव, ब्रह्मा, सूर्य, सरस्वती, लक्ष्मी, दुर्गा आदि अनेक दिव्य भावों में कला के लिए सामग्री है। परन्तु यह आवश्यक है कि कला के निर्माता और जनता, दोनों ही यथार्थ तत्त्व या स्वरूप को पहले भली प्रकार समझ लें। तभी इनके रूप की बाह्य परिभाषाओं में नीरसता के स्थान में अद्भुत आनन्द का जन्म होगा। सदियों से जड़ बने हुए भाव फिर चेतना-सम्पन्न हो जायंगे। भौतिक और प्राकृतिक घटनाओं का कोई उदाहरण ऐसा नहीं है जिसके लिए कलात्मक परिभाषाओं की रचना भारतवर्ष में न हुई हो।

: १४ :

कालरूपी विराट् अश्व

काल एक ऐसा अश्व है जो निरन्तर गतिमान् है, वह कभी रुकता नहीं। उसके लिए न आज है, न कल। सचमुच वह अश्व बिना श्वोभाव का है। वह कहीं रुक सकता तो उसके पड़ाव को लेकर भूत-भविष्य के अंक लगाये जा सकते। वह सतत एकरस है।

उस अश्व की सात रश्मियां हैं। इन बागडोरों से वह नियंत्रित है। सात रश्मियों द्वारा वह अश्व सबको चला रहा है। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जिसमें इन सात रश्मियों की विभिन्नता ने गति और छन्द की भिन्नता न उत्पन्न की हो। सूर्य की सात किरणें इन सात रश्मियों के रूप में सबको घेरे और जकड़े हुए हैं। ब्रह्माण्ड इन सात किरणों से बन-बिगड़ रहा है। शरीर के सात प्राण और सात धातुएं विराट् सात किरणों का छन्द लेकर इस शरीर में विकसिल हुई हैं। मन-बुद्धि की सूक्ष्मतम वृत्तियां इन्हीं सात किरणों से प्रवृत्त हुई हैं। इन किरणों का एक छोर नील प्रकाश का आवाहन करता है, दूसरा छोर लोहित उष्णता का। इसीको रुद्र का नील-लोहित धनुष कहते हैं। नील से वह रक्षा करता है, लोहित से नाश या विकरण करता है। इस नील-लोहित धनुष से रुद्र प्राणियों को समय आने पर विद्ध करता है। यौवन में नील रश्मियों से जीवन प्रदान करता है, जरावस्था में लाल-लाल बाणों से बींध डालता है। रुद्र का धनुष सबके लिए तना हुआ है।

इस महान् अश्व की संज्ञा सहस्राक्ष है। उसकी शक्ति का प्रकाशन सहस्र प्रकार से हो रहा है। अनन्त का पारिभाषिक संकेत सहस्र है। जो वस्तु सहस्र है वह विराट् है, जो शत है वह पिंडगत और परिमित है। कालरूपी विराट् अश्व की हजार किरणें उसके सहस्र नेत्र हैं। इसकी सात रश्मियां स्थूल रूप में हमारे नेत्रों को दिखाई पड़ती हैं। किन्तु सात रश्मियों से आगे-पीछे फैला हुआ जो इसका रश्मिजाल है वह चक्षुरिन्द्रिय से अतीत है, ऐसा जाननेवाले कहते हैं। वस्तुतः वे सहस्र रश्मियां ही सृष्टि की

मूलभूत ब्रह्माण्ड किरणें हैं और सृष्टि-रचना के बाद भी जो बच रहता है उसका भी आधार वे ही रश्मियां हैं।

यह महान् अश्व कौन है ? जो जानते हैं वे उसे काल कहते हैं। सभीपर यह काल सवारी कर रहा है, सब इसके वशीभूत हैं। कुछ ही ऐसे हैं जो इस अश्व की रश्मियों को सम्हालकर इसके छन्द को अपने वश में कर लेते हैं, वे ही विद्वान् सूझ-बूझ रखनेवाले मनीषी इस अश्व पर आरोहण करते हैं, अन्यथा राव-रंक, धनी निर्धन, कोई ऐसा नहीं है जिस-पर काल का अंकुश न हो। किन्तु इस काल की अन्तर-कुक्षि में अमृत का घट छिपा है। उसे पहचानना और उस अमृत-रस का पान करना यही विपश्चित् विद्वान् की कसौटी है।

यह अश्व अजर है। इसे छीजते हुए आज तक किसने देखा है ? कितने देव-मनुष्य इसने जीर्ण कर डाले, पर स्वयं यह जीर्ण नहीं हुआ। इसका बल कभी घटता नहीं। शैशव और यौवन के भरते हुए प्राण-भंडार पर काल अपना अमृत छिड़क देता है। उस अमृत-प्रोक्षण से यौवन के उल्लास का उद्गम होता है, किन्तु समय पाकर जीवन का लहलहाता पौधा पुनः काल के वशीभूत होने लगता है। उसकी हरियाली कम होती जाती है और उसके प्राणमय पल्लव पीले पड़ने लगते हैं। यही क्रम कबसे चल रहा है—'**सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः**। जीवन-मृत्यु का यह छन्द प्रत्येक तृण को और प्रत्येक प्राणी को पकड़े हुए है। काल जीर्ण न होगा, स्वयं अजर बना हुआ वह सबको जीर्ण कर डालेगा। यही जीवन-मरण की करुण कहानी पूर्व के पिताओं ने सुनी और भविष्य के पुत्रों को भी सुननी पड़ेगी। इस कालरूपी अश्व की शक्ति सब शक्तियों से ऊपर है। इसका वीर्य अप्रतिहत है। जानकार व्यक्ति इस भूरिरेत अश्व की शक्ति को वश में करने के लिए प्रज्ञा के उपायों से काम लेते हैं। पशु-शक्ति से इसपर कोई सवारी नहीं कर सकता, इस अश्व के जरा-मरणरूपी उठते हुए पग पशु-शक्ति या स्थूल युक्ति से नहीं रोके जा सकते। अत्यन्त निठुर होते हुए भी यह अश्व उनका मित्र है जिन्हें यह अपनी पीठ पर बैठा लेता है। केवल प्रज्ञा से ही ऐसा सम्भव है। प्रज्ञावान् पुरुष ही कवि हैं जो जीवन के छन्द को पहचान लेते हैं, जिनके मन में तनाव की जगह ताल और लय निवास करते हैं।

इस काल-रथ के चक्र में सब लोक बंधे हैं। ब्रह्माण्ड के अनन्त नक्षत्रों में कोई ऐसा नहीं जो काल-चक्र के साथ न घूमता हो। किसी अदृश्य शक्ति ने सबके लिए यही एक मार्ग नियत कर दिया है, यही नियति है। काल के रथचक्र के साथ नियंत्रित होकर सब चिर यात्रा में प्रवृत्त हैं। कवि ने ठीक ही कहा है—

पतन अभ्युदय बन्धुर पन्था
युग-युग धावित यात्री।
हे चिर सारथि! तव रथ-चक्रे
मुखरित पथ दिन-रात्री॥ (—रवीन्द्र)

इस सारथी के चलाये हुए रथ के पहिये से यह अनन्त मार्ग रात-दिन, चाहे वे मानवी जीवन के हों या ब्रह्मा की आयु के कल्प हों, झन-झन कर रहा है। अहर्निश पथ-संनादन करनेवाले इस रथ-चक्र की ध्वनि निरन्तर सुनाई पड़ रही है।

काल-रथ की धुरी अमृत से औंगी हुई है। कल्प-कल्प तक चलते रहने पर भी वह कभी गरम नहीं होती—

नाक्षस्तप्यते भूरिभारः।

अनन्त ब्रह्माण्डों का भारी बोझ इस काल-रथ पर लदा है, फिर भी इसका धुरा कभी धुंधुआता नहीं, न इसे रुकने की आवश्यकता पड़ती है। इसके अक्ष में अवश्य अमृत छिपा है—

अमृतं नु अक्षः

सब धुरे घिसते, छीजते और टूटते हैं, पर कालरूपी रथ की धुरी अटूट वज्र से बनी है, वह अमृत के जल में बुझाई गई है। अमृत से औंगा हुआ यह पहिया धुरे को सकुशल रखकर सदा घूमता आया है। आगे भी इसमें बिगाड़ होने की आशंका नहीं।

काल ही जीवन की गति है। देश के साथ काल न मिला हो तो जीवन स्थिर होकर सड़ने लगता है। काल ही उसमें अमृत-रस चुआकर उसे आगे बढ़ाता है और उसमें परिवर्तन के चमत्कार उत्पन्न करता है। बाल्यावस्था में जब काल का गतिमान् अमृत मिलता है तब उसमें यौवन के नवीन चमत्कार

उत्पन्न होते हैं। जरा को काल आगे बढ़ाता है तो उसके बाद पुनः नवीन जीवन बालरूप में प्रकट होता है। सृष्टि के सुन्दर नाटक में पिता पुत्र बनकर प्रकट हो रहे हैं और फिर पुत्र पिताओं के पिता बनने का उपचार कर रहे हैं। देश का सबसे बड़ा उपकारी मित्र काल है। देश स्थिर है, काल उसमें गति भरता है और तभी ब्रह्म-चक्र भ्रमण करता है। स्थिर पहिया करुणा का रूप है, देखनेवालों के मन में वह शोक उत्पन्न करता है।

जो जानते हैं वे कहते हैं कि इस काल के सात पहिये हैं, सात ही इसकी नाभियां हैं। सप्त प्राणों में, सप्त आकाशों में, सप्त पातालों में, सप्त महाद्वीपों में, सप्त महासागरों में सप्त वायुस्तरों में, सप्त भुवनपिण्डों में, जहांतक सृष्टि में सप्त-सप्त का क्रम है, इस काल-चक्र का सम्बन्ध है। सात पहिये और उसकी सात नाह—इनमें समस्त जीवन बंधा है। स्वयं प्रकृति ने सप्त रश्मियों से इसके सात चक्रों का निर्माण किया है। एक-एक सूर्य-रश्मि एक-एक नाभि है जिसके चारों ओर एक-एक चक्र का निर्माण हुआ है। वे ही सप्त चक्र स्थूल ब्रह्मांड की समस्त प्रक्रियाओं के आधार है।

इस काल को हम इस प्रकार एक से अनेक होता हुआ क्यों देखते हैं? इसमें से इतने बहुरूपी पदार्थ कैसे बन जाते हैं? प्रतिवर्ष कितने असंख्य रूप इस काल के उदर में से नये उत्पन्न होते हैं। इनकी उत्पत्ति का भंडार कहां है? अनेक रूपों का यह नित नया चमत्कारी प्रदर्शन इतिहास का सबसे बड़ा आश्चर्य है। इन रूपों का आज तक कोई अन्त नहीं हुआ, आगे भी नहीं होगा। सत्य और अनृत, मृत्यु और अमृत, श्रद्धा और और अश्रद्धा, यौवन और जरा, संकल्प और विकल्प इनके द्वारा काल के अन्तराल में नित्य नये रूप भर रहे हैं। किसकी बहुरंगी तूलिका अनेक रूप लिख रही है? कहते हैं, काल की कुक्षि में एक पूर्ण घट है। उस पूर्ण कुम्भ में जीवन का जल भरा है। लहलहाते हुए पुष्प और पल्लव उस मंगल-कलश के मुख पर उगते हुए प्रकट हो रहे हैं। यह पूर्ण कुम्भ सृष्टि का मूल बीज है, वह अणु से अणु है और कोई प्राणी ऐसा नहीं है जिसमें उसका अंश न हो। वह बीज नाना रूपों में प्रकट हो रहा है—

पूर्णः कुम्भोऽधिकाल आहितस्तं
वै पश्यामो बहुधानु सन्तः।

अर्थात्—काल के भीतर जो पूर्ण कुम्भ है उसीसे हम नाना आकृतियों को जन्म लेता हुआ देखते हैं।

काल से द्युलोक और पृथ्वी का जन्म होता है। अंकुरित होनेवाले प्रत्येक बीज में सर्वप्रथम अपने द्युलोक और अपनी पृथ्वी का निर्माण होता है। ये अनादि माता-पिता प्रत्येक सृष्टि-केन्द्र के लिए आवश्यक हैं। प्रत्येक बीज की पोखली इन दोनों तत्त्वों से बनती है। अतएव जहां भी काल जन्म या नव-निर्माण को प्रेरित करता है, वह द्युलोक और पृथ्वी के शाश्वत द्वन्द्व को पहले रचता है। उन्हींके अन्तराल में बीज का बहुविध जीवन फैलता और भरता है। काल की निर्माण-क्रिया के लिए जिस देश की आवश्यकता है उसीकी द्विविध संज्ञा द्यावापृथ्वी है। किन्तु केवल देश से निर्माण असम्भव है, उसके लिए भूत और भविष्य-रूपी भेदों में बंट जानेवाले काल की भी आवश्यकता है। जो काल एकरस है, वह सृष्टि के लिए अनुपयोगी है। भूत-भविष्य-वर्तमान इन भेदों से युक्त काल ही सृष्टि में सहायक है। द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वी एवं भूत, भविष्य और वर्तमान इस प्रकार विभक्त देश-काल के पारस्परिक सहयोग से सृष्टि सम्भव बनी है। इन दो शक्तियों को नामरूपी भी कहा जाता है। ये दो बड़े यक्ष हैं जिनके विमर्द से सृष्टि का द्वन्द्व जन्म लेता है।

काल से अधिक दुर्धर्ष यहां कुछ नहीं—

तस्माद्वै नान्यत्परमस्ति तेजः।

काल की आंच सबको पचा रही है। काल-परिपक्व हुए सब यथास्थान विशीर्ण हो जाते हैं। वस्तुतः काल को जगत् का आदिकारण माननेवाले दार्शनिकों की दृष्टि में काल सबका स्वामी है, वह प्रजापति ब्रह्मा का भी जनयिता पिता है—

कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत्प्रजापतेः।

काल ने ही प्रजाओं को बनाया है और उसीने आरम्भ में प्रजाओं के रचयिता प्रजापति को जन्म दिया—

कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम्।

इस प्रकार का जो एक महामहिम तत्त्व है यदि वही काल है तो उसमें और ब्रह्म में क्या अन्तर है ?

कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम् ।

परमेष्ठी प्रजापति को धारण करनेवाला उसका आधारभूत तत्त्व काल है। मन और प्राण को शक्ति देनेवाला काल है। आरंभ के सृष्टिव्यापी मन-प्राण और पिंडगत मन-प्राण इन दोनों को प्रेरणा-शक्ति काल से मिलती है। शैशव और यौवन कालकृत अवस्थाएं हैं। उनके मन और प्राण भी निश्चय ही काल-धर्म से विकसित होते हैं। ऋग्वेद और यजुर्वेद, यज्ञ और देवता, गन्धर्व और अप्सरादि योनियां, वायु और सूर्य—कुछ भी ऐसा नहीं जिसका विकास काल से न हुआ हो। ऐसा सर्वशक्ति-सम्पन्न काल सृष्टि का 'परमदेव' है जो सर्वोपरि है—

इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च
लोकान्विधृतीश्च पुण्याः ।
सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा
काल ईयते परमो नु देवः । (अथर्व० सूक्त—१९।५३।५४)

यह लोक, सबसे ऊपर का द्युलोक, स्वर्गादि पुण्यलोक, धर्म की पवित्र विधृति या आधार-भूमियां, अथवा संक्षेप में, जितने भी देश-काल-कृत प्रपंच-भेद हैं, उन सबको ब्रह्म-शक्ति से अपने वश में करके परमतत्त्व या देवाधिदेव काल गतिमान है।

: १५ :

वाल्मीकि

वाल्मीकि हमारे राष्ट्रीय आदर्शों के आदि विधाता हैं। धर्म और सत्य-रूपी महावृक्षों के जो अमर बीज वाल्मीकि ने बोये हैं वे आज भी फल-फूल रहे हैं। इस देवपूज्य पुण्यभूमि में रहने योग्य देवकल्प मानव के निर्माण का श्रेय वाल्मीकि को ही है।

भारतवर्ष की पुण्यभूमि के लिए महर्षि वाल्मीकि का काव्य गंगा के पवित्र जल की तरह अनेक लोकोपकारी मंगलों का करनेवाला है। भारत के भौतिक रूप को देवयुग में प्रजापति ने रचकर तैयार किया। इसमें जहां एक ओर पृथ्वी के धारण करनेवाले गिरिराज हिमालय हैं, वहां दूसरी ओर अगाध गाम्भीर्यवाले समुद्र है। इसके वक्षस्थल पर गंगा और यमुना की वारि-धाराओं के उज्ज्वल कंठहार है। मध्य में गहन दंडकवन का अगम्य विस्तार है। सर्वांग-सुन्दर इस भूप्रदेश में अनेक रत्नों की समृद्धि, दिव्य ओषधि-वनस्पतियों का भंडार और उपयोगी पशु-पक्षियों की सम्पत्ति को विधाता ने चारों ओर से भरपूर करके प्रस्तुत किया है। उसमें रहने योग्य मानव की जब हम कल्पना करने लगते हैं तो हमें वाल्मीकि का ध्यान आता है। उपरोक्त प्रकार से देवों से पूजी गई पुण्यभूमि में रहने योग्य देवकल्प मानव का निर्माण किसने किया ? इस देश में मानव के मस्तक को ऊंचा रखनेवाले हिमालय के समान उन्नत आदर्शों की स्थापना किसने की ? गम्भीर सागर के समान त्रिकाल में भी मर्यादाओं का उल्लंघन न करनेवाले पूर्णपुरुष का निर्माण किसने किया ? पुण्यसलिला भागीरथी के समान सब लोगों से वन्दनीय चरित्र की कल्पना यहां किसके द्वारा हुई ? किसने सबसे पहले जीवन के अगम्य, अज्ञात दंडकवन में चारित्र्य की सुलभ पगडंडियों का निर्माण किया ? इन प्रश्नों के उत्तर के लिए हमें महर्षि वाल्मीकि की शरण में जाना पड़ता है। वाल्मीकि हमारे राष्ट्रीय आदर्शों के आदि विधाता हैं। रामायण के प्रारंभ में ही महाकवि ने दृढ़ता के साथ प्रश्न किया है—

चारित्र्येण च को युक्तः ?

जीवन में चरित्र से युक्त कौन है ? वाल्मीकि का दृष्टिकोण चरित्र-योग की जिज्ञासा है। चरित्रवान् व्यक्ति को ढूंढ़ने के लिए ही आदिकाव्य रामायण का जन्म हुआ है। जितने भी अन्य गुण हैं सब चरित्र की व्याख्या के अन्तर्गत आ जाते हैं। वाल्मीकि के लिए चरित्र और धर्म पर्यायवाची हैं। अतएव उनकी दृष्टि में राम धर्म की प्रकट मूर्त्ति हैं—

रामो विग्रहवान् धर्मः (अरण्य० ३८।१३)

राम शरीरधारी धर्म हैं। वाल्मीकि राम की प्रशंसा में धर्मज्ञ, धर्मिष्ठ, धर्मभृतां-वर आदि विशेषण देते हुए नहीं थकते। मन, कर्म और वाणी से राम जो भी चरित्र करते हैं उससे हमें धर्म की नई-नई व्याख्या प्राप्त होती है। राम सनातन धर्मवृक्ष के बीज हैं। अन्य सब मनुष्य उस वृक्ष के पत्र, पुष्प और फल हैं।[1] वाल्मीकि की दृष्टि में संसार में दो ही प्रकार के मनुष्य बसते हैं—एक अल्पसत्त्व या हीन पराक्रमवाले साधारण मनुष्य, जिन्हें रामायण में प्राकृत नर कहा है; दूसरे धीर या चरित्रवान् व्यक्ति जो धर्म और सत्य के आदर्शों को कर्म के मार्ग से अपने जीवन में प्रत्यक्ष कर दिखाते हैं। दूसरा मार्ग ही जीवन के लिए बहुमूल्य है। हमारे चारों ओर साधारण जीवन व्यतीत करनेवाले मनुष्य ढेरों दिखाई पड़ते हैं; परन्तु जीवन की मर्यादाओं में पूरा उतरनेवाले सत्यसन्ध और दृढ़व्रत मनुष्य विरले ही होते हैं। वाल्मीकि ने जिस चरित्रयोग का वर्णन किया है, धीर पुरुष उसके केंद्र हैं। कवि और उसका काव्य दोनों एक-दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते। इसीलिए वाल्मीकि और उनके आदर्श राम भी एक-दूसरे से अभिन्न हैं।

मानव क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर दार्शनिक लोग कई प्रकार से देते हैं। किसीके मत में मनुष्य मनन करनेवाला प्राणी है। किसी की दृष्टि में वह केवल बाह्य साधनों और औजारों से काम लेनेवाला जन्तु है। कोई इसे हँसने और बोलनेवाला पशु समझकर इसकी साधारण-सी परिभाषा करते हैं। वाल्मीकि की परिभाषा इन सबसे विलक्षण है। उनकी दृष्टि में मनुष्य एक चरित्रवान् प्राणी है। चरित्र से युक्त मनुष्य ही जीवन को मूल्यवान् और आकर्षण की वस्तु बनाता है। चरित्र ही धर्म है। चरित्र में जो मोहन मंत्र है, वह अन्यत्र कहीं नहीं।

चरित्र के आदर्श में शरीर और मन दोनों का समावेश है। वाल्मीकि के मत से चरित्रवान् पुरुष वह है जिसमें शारीरिक विकास और नैतिक विकास रथ के दो पहियों की तरह साथ-साथ चलते हैं। राम के वर्णन में वाल्मीकि ने जिन विशेषणों का प्रयोग किया है, उनके अध्ययन से राम का शारीरिक

---

[1] **मूलं ह्येष मनुष्याणां धर्मसारो महाद्युतिः।**
पुष्पं फलं च पत्रं च शाखाश्चास्येतरे जनाः॥ (अयो० ३३।१५)

सौंदर्य और गठन हमारे सामने मूर्त्तिमान् हो उठता है। राम के शरीर में कंधे चौड़े और उठे हुए, भुजाएं लम्बी, ग्रीवा शंख की तरह और ठोड़ी दोहरी थी। छाती चौड़ी, लम्बा धनुष संभालनेवाले घुटनों तक लंबे हाथ, गले की हड्डी मांस से दबी हुई, उत्तम शिर, सुन्दर ललाट, बड़ी-बड़ी आंखें, चमकीला रंग, सब अंग बराबर बंटे हुए, सब प्रकार शुभ लक्षणों से युक्त देह, इस प्रकार राम का क्षत्रिय स्वरूप था। सप्तसिन्धु और गंगा की अन्तर्वेदी में दृढ़ता के साथ जिन आर्यों ने सभ्यता का विकास किया, मालूम होता है राम उनके मूर्त्तिमान् प्रतीक हैं। हमें स्मरण है कि महाकवि कालिदास ने भी रघुवंशी राजाओं के भौतिक स्वरूप की ऐसी ही उदात्त कल्पना रक्खी है—

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः॥

अर्थात्—राजा दिलीप की छाती चौड़ी, कन्धे बैल के समान, लम्बाई शालवृक्ष का स्मरण दिलानेवाली और भुजाएं बड़ी-बड़ी थीं। वह क्षत्रिय थे। क्षत्रियों का कर्म रक्षा करना है। उस कर्म के अनुसार ही मानो स्वयं क्षात्रधर्म ने शरीर धारण किया था। राम पूर्ण रूप से दिलीप आदि राजर्षियों की परम्परा के प्रतिनिधि हैं। आर्य सभ्यता का जो युगान्त तक फैला हुआ इतिहास है, इक्ष्वाकुवंशी राजा उसके मेरुदण्ड कहे जा सकते हैं। राम को उस शृङ्खला का सुमेरु ही समझना चाहिए।

आरम्भ में ही तपस्वी वाल्मीकि नारदजी से प्रश्न करते हैं कि इस समय लोक में गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्य बोलनेवाला, दृढ़व्रती, चरित्र से युक्त, सब भूतों का हित करनेवाला, विद्वान्, सुन्दर, जितेन्द्रिय और क्रोध को जीतनेवाला कौन है? उत्तर में नारदजी राम के अनेक गुणों की तालिका प्रस्तुत करते हैं। नारद का उत्तर भारतीय चरित्रकी विशेषताओं को बतानेवाला आज भी एक मानदंड है। अपने राष्ट्रीय चरित्र की गुणगरिमा का अनुसंधान करने के लिए जब हम परिषद् का संगठन करेंगे तब हमें नारद के उत्तर का मूल्य ठीक-ठीक आंकने का दृष्टिकोण प्राप्त होगा। मनु ने राष्ट्र के मस्तक को गर्व से ऊंचा रखने के लिए लिखा है कि इस देश में जन्म लेनेवाले अग्रणी पुरुषों का चरित्र पृथ्वी के दूसरे देशों के लिए शिक्षा की वस्तु है। मनु

की प्रतिज्ञा का पूरा महत्त्व हमारी आंखों से ओझल होगया है। हमारी अन्त-रात्मा का सुवर्ण दैन्य के लोहे से छूकर निस्तेज बन गया है। परन्तु नारद के उत्तर से चरित्र की उस ऊंचाई का कुछ आभास हमें अब भी प्राप्त होता है।

राम नियतात्मा हैं। उन्होंने इन्द्रियों का जय किया है। वे महावीर्य हैं। संग्राम में पैर पीछे नहीं रखते। धृति और बुद्धि दोनों का उनमें विकास है। वे नीतिमान् और वाग्मी, सुन्दर भाषण करनेवाले हैं। वे देवकल्प, ऋजु और दान्त हैं। धर्म के तत्त्व को जानते हैं। सत्यसंध अर्थात् मन, कर्म और वचन से सत्य का पालन करनेवाले हैं। राम क्षत्रिय के पद से सदा प्रजाओं का हित करते हैं। यशस्वी, ज्ञानसंपन्न, शुचि, वश्य और समाधिमान् या चित्त की एकाग्रता से युक्त हैं। जीवों के रक्षक, धर्म के रक्षक, स्वधर्म और स्वजनों का पालन करनेवाले हैं। वेदवेदांग में पारंगत और धनुर्वेद में निष्ठित हैं। राम आर्य हैं। सदा हँसकर बोलते हैं, उनका दर्शन ही सुन्दर है। वह सब शास्त्रों के मर्म को जाननेवाले स्मृतिवान् हैं, उनकी बुद्धि में नवीन कल्पनाओं या विचारों का स्फुरण होता रहता है। पराक्रम में विष्णु, कान्ति में चन्द्रमा, क्रोध में कालाग्नि, क्षमागुण में पृथिवी, त्याग में कुबेर और सत्यगुण में साक्षात् धर्म के समान हैं।[1]

प्रचीन ऋषियों ने जिस बुद्धियोग का विकास किया था, राम उसके उदाहरण हैं। सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण में एक समान अविचल रहनेवाली बुद्धि ही प्रज्ञा है। गीता में एक समान अविचल रहनेवाली बुद्धि ही प्रज्ञा है। गीता में इस प्रज्ञायोग का वर्णन है। राम के लिए प्रसिद्ध है कि राज्याभिषेक के समाचार के बाद वरदानिक वनवास के समाचार से उनके मुख पर कोई परिवर्त्तन नहीं देखा गया। राज्य के नाश से उनके मुख की श्री में कोई अन्तर नहीं पड़ा। वन को जाते हुए और पृथिवी को छोड़ते हुए उनके चित्त में ज़रा-सा विकार नहीं आया।[2] राम ने स्वयं कैकेयी से कहा है:

---

[1] मूल रामायण, सर्ग १।

[2] न चास्य महतीं लक्ष्मीं राज्यनाशोपकर्षति।
न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुन्धराम्।
सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया॥ (अयो० १६।३२—३३)

नाहमर्थपरो देवि लोकमावरतुमुत्सहे ।
विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं विमलं धर्ममास्थितम् ॥ (अयो० १९।२०)

अर्थात्—हे देवि, मैं अर्थपरायण बनकर जगत् में जीना नहीं चाहता। मुझे तुम ऋषियों के समान निर्मल धर्म का अनुगामी समझो।

वाल्मीकि की दृष्टि में भरत भी धार्मिक हैं, राम भी धार्मिक हैं। चित्रकूट में मन्दाकिनी के तीर पर भरत ने राम की पूर्वोक्त प्रज्ञा का वर्णन करते हुए कहा था—

हे राम, लोक में ऐसा कौन है जैसे तुम हो? दुःख से तुमको व्यथा नहीं पहुंची, कल्याण से तुम हर्षित नहीं हुए। तुम्हारे लिए मृत्यु और जीवन, होना-न होना, दोनों समान हैं। ऐसी बुद्धि जिसकी हो उसको परिताप कहां हो सकता है?

यथा मृतस्तथा जीवन् यथासति तथासति ।
यस्यैष बुद्धिलाभः स्यात्परितप्येत केन सः ॥ (अयो० १०६।४)

वाल्मीकि की दृष्टि में चरित्र जीवन का सक्रिय मार्ग है। अपने केन्द्र में आप समाकर निस्तेज स्वार्थी जीवन बिताते हुए जो सदाचार रखा जाता है, वह हेय है। उससे जीवन का गहन दंडकवन पार नहीं किया जा सकता। वाल्मीकि हमें बार-बार याद दिलाते हैं कि राम प्रजाओं के हित में रत रहने वाले हैं, स्वजन और धर्म के रक्षक हैं। सघन दंडकवन में मुनि राम के पास आकर कहते हैं—'हे राम, तुम धर्मज्ञ, धर्मवत्सल हो। कुछ याचकभाव से नहीं, धर्म के भाव से हम तुमसे कहते हैं। राजा को पुत्र के समान प्रजा का पालन करना चाहिए। वन में फलमूल खानेवाले मुनि जो तप करते हैं उसका एक-चौथाई भाग धर्म से प्रजारक्षण करनेवाले राजा को प्राप्त होता है। पम्पा, मन्दाकिनी और चित्रकूट आदि स्थानों में रहनेवाले मुनियों को राक्षस लोग अनेक प्रकार से सताते हैं।' यह सुनकर राम अपने धनुष की ओर देखते हुए प्रतिज्ञा करते हैं—'मेरा वन में आना बड़ा फलदायक हुआ। मैं आपके शत्रु राक्षसों का अवश्य वध करूंगा।'

पति का कल्याण चाहनेवाली सीता को इस प्रकार की प्रतिज्ञा से भय हुआ। वह बोली—"हे राघव, मिथ्या वाक्य तुम्हारा कभी न हुआ है, न

होगा। पर बिना वैर के रुद्रभाव धारण करना भी तो उचित नहीं है। स्नेह से और आदर से मैं तुम्हें स्मरणमात्र दिलाती हूं, शिक्षा नहीं देती। हम वन में आये हुए हैं। कहां वन का वास और कहां शस्त्र उठाना, कहां तप की वृत्ति और कहां क्षात्रधर्म ? दोनों में मेल नहीं है, यहां हमको देशधर्म का ही पालन करना उचित है। शस्त्र के सेवन से बुद्धि मलिन हो जाती है। अयोध्या लौटने पर फिर क्षत्रियधर्म ग्रहण कीजिएगा।[1] यदि राज्य त्यागकर और संन्यास लेकर आप वन में नियमों का पालन करते हुए रहें तो और भी अधिक धर्म और प्रसन्नता की बात होगी। धर्म से सबकुछ बनता है, धर्म ही जगत् का सार है। हे सौम्य, तपोवन में रहकर धर्म का आचरण करो।"

सीता एक उपाख्यान द्वारा तलवार की उत्पत्ति बताती हैं : इन्द्र ने एक मुनि को तपभ्रष्ट करने के लिए उसके पास आश्रम में आकर उसे तलवार रखने के लिए दे दी। बस हर समय तलवार पास में रखने से उसकी बुद्धि प्रचंड बन गई और वह मुनि शस्त्र रखने से नरक को चला गया। दंडकवन के राक्षसों ने आपका क्या बिगाड़ा है, बिना अपराध आप उन्हें क्यों मारने चले हैं ?

परन्तु राम का निर्माण दूसरे प्रकार की मिट्टी से हुआ था। उनके रोम-रोम में क्षात्रधर्म फड़कता था। सीता के धर्मवाद की युक्ति का उनपर कुछ असर न हुआ। उन्होंने कहा—"हे देवी, मैं क्या कहूं, तुम स्वयं समझती हो। क्षत्रिय लोग इसलिए धनुष बांधते हैं कि राष्ट्र में 'आर्त' शब्द सुनाई न पड़े—

क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्तशब्दो भवेदिति।

(अरण्य० १०।३)

"दुःखी होकर दंडकवन में मुनि लोग मेरे पास आये। मैंने उनके दुःख की

---

[1] **क्व च शस्त्रं क्व च वनं क्व च क्षात्रं तपः क्व च।**
व्याविद्धमिदमस्माभिर्देशधर्मस्तु पूज्यताम् ॥२७॥
कदर्य कलुषा बुद्धिर्जायते शस्त्रसेवनात्।
पुनर्गत्वा त्वमयोध्यां क्षात्रधर्मं चरिष्यसि ॥२८॥

कथा सुनकर उनसे कहा कि मेरे लिए तो यही बड़ी लज्जा की बात है जो आप-जैसे विप्रों को मेरे पास आने तक का कष्ट उठाना पड़ा। क्यों नही मैंने स्वयं ही आपका कष्ट दूर कर दिया ? यह कहकर मैंने उन मुनियों के सामने राक्षसों को मारने की प्रतिज्ञा की। उस प्रतिज्ञा का पूरी तरह पालन करना मेरा धर्म है। जबतक मेरा जीवन है उस व्रत से मैं नहीं फिर सकता। हे सीते, चाहे मेरे प्राण चले जायं, चाहे उस प्रतिज्ञा की पूर्ति में लक्ष्मण के साथ तुमको भी मुझे छोड़ना पड़े, पर उस व्रत का पालन मैं अवश्य करूंगा। बिना कहे भी मुझे वह कार्य करना चाहिए था, प्रतिज्ञा करके तो बात ही दूसरी है।"

इस प्रकार का कर्ममय धर्म, सत्य और चरित्र वाल्मीकि को इष्ट था, जिसकी व्याख्या के लिए उन्होंने रामकथा का आश्रय लिया। वाल्मीकि अपने युग के असाधारण व्यक्ति थे। वह जनक के प्रिय सखा और दशरथ के बालपन में साथ खेले हुए मित्र थे। अपने युग के आदर्शों को, ब्राह्मधर्म और क्षात्रधर्म के समन्वय को उन्होंने सुन्दरता के साथ प्रतिपादित किया है।

वाल्मीकि का धर्म का आदर्श मनु और व्यास के धर्म की तरह प्रजाओं के पालन और राष्ट्र के धारण के लिए है। उन्होंने अनेक स्थलों पर अपने दृष्टिकोण का व्याख्यान किया है। धर्म के द्वारा सब वर्णों का पालन करना राजा का श्रेष्ठ कर्म है।

भरतजी राम से कहते हैं—हे धर्मज्ञ, चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ है, उसको त्यागना उचित नहीं है।

चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम्।
आहुःधर्मज्ञ धर्मज्ञास्तं कथं त्यक्तुमिच्छसि॥

क्षत्रियों का यही प्रथम धर्म है कि राज्याभिषिक्त होकर प्रजाओं की रक्षा करें। प्रत्यक्ष को त्याग कर अनिश्चित मार्ग की उपासना क्षात्रबन्धुओं का काम है। तीन ऋणों का परिशोध यही जीवन का ध्येय है।

भरत के इस आदर्श से राम का मतभेद नहीं है, परन्तु वह पिता की सत्य प्रतिज्ञा के पालन को श्रेष्ठ मानते हैं। सत्य धर्म का मूल है। सत्य के छोड़ देने पर जीवन और लोक दोनों में संकट हो जाता है। राम स्वयं अपने

चरित्र से लोकदूषण या लोकसंकर नहीं कर सकते। दशरथ के मंत्री जाबालि लोकायत पक्ष के माननेवाले थे। परलोक कुछ नहीं, धर्म-बन्धन कुछ नहीं, प्रत्यक्ष ही सब कुछ है; इसलिए हे राम, राज्य पर अधिकार कर लो, फिर अब तो भरत भी कह रहे हैं। जाबालि की इस युक्ति का राम ने ओज-पूर्ण खंडन किया है। आर्य होकर मैं अनार्यो-जैसा काम नहीं करूंगा, कुलीन होकर अकुलीनों का आचार नहीं करूंगा, काम के वशीभूत होकर सब लोकों को डुबानेवाला आचारण मुझसे न होगा। राजा जैसे आचरण करते हैं, प्रजाएं भी वैसे ही बरतती हैं।

यद्वृत्ताः सन्ति राजानस्तद्वृत्ताः सन्ति हि प्रजाः।

(अयो० १०६।६)

भीष्म-पितामह के शब्दों में राजा समय का बनानेवाला है। सत्य ही सनातन राजवृत्त है, इसीलिए राज्य की नींव सत्य पर है। "सत्य से ही लोक प्रतिष्ठित है। ऋषि और देव सत्य को ही श्रेष्ठ मानते हैं। अनृतवादी मनुष्य से लोग ऐसे डरते हैं जैसे सांप से। सत्यपरायण धर्म ही सबका मूल है। सत्य ही लोक का ईश्वर है। धर्म सत्य के ही आश्रित है। सत्य से परे और कुछ नहीं है। दान, यज्ञ, अग्निहोत्र और तप सब सत्य के बल पर टिके हुए हैं। वेद भी सत्य पर प्रतिष्ठित हैं, इसलिए सत्यपरक होना चाहिए। अकेला सत्य ही लोक का पालन करता है, वही कुलों की रक्षा करता है। मैं अवश्य पिता के सत्य की रक्षा करूंगा। मेरे लिए यह असम्भव है कि लोभ से मोह से, या अज्ञान से, किसी भी प्रकार मैं सत्य की मर्यादा का उल्लंघन करूं।

नैव लोभान्न मोहाद्वा न चाज्ञानात्तमोन्वितः।
सेतुं सत्यस्य भेत्स्यामि गुरोः सत्य प्रतिश्रवः॥

(अयो० १०६।१७)

यह सत्य प्रत्येक व्यक्ति के भीतर रहनेवाला (प्रत्यगात्मा) धर्म मुझे जान पड़ता है। यदि मैं असत्य का आचरण करूंगा तो क्षात्रधर्म से पतित हो जाऊंगा। यह भूमि, कीर्ति, यश और लक्ष्मी सब सत्यवादी के लिए हैं। मै कार्य-अकार्य को जानता हुआ श्रद्धा के साथ लोकयात्रा का निर्वाह करूंगा। यह लोक कर्मभूमि है। यहां आकर शुभ कर्म करना चाहिए। अग्नि, वायु, सोमादि

देव भी कर्म का ही फल भोग पाते हैं। सत्य, धर्म, पराक्रम, भूतानुकम्पा, और प्रिय वचन यही एकोदय धर्म है, लोकागम की इच्छा रखनेवाले पुरुष जिसका आचरण करते आये हैं।"

धर्म का ऊपर कहा हुआ आदर्श जीवन के भीतर से पनपता है। इस मार्ग का अनुयायी जीवन से भागता नहीं, वह उसको कर्म के जल से सींचता है और उसकी छाया में शान्ति और विश्राम प्राप्त करता है।

वाल्मीकि ने ऋजुजीवन की जो कल्पना की है उसमें हरेक पात्र धर्म के बन्धन से बंधा हुआ है। हम अपने जीवन में जिस जगह भी हैं, अनेक प्रकार के सत्य बन्धनों से हम उस स्थान पर स्थिर हैं। विद्यार्थी के लिए अपना धर्म है, गुरु के लिए अपना धर्म है। माता और पिता, भाई और बन्धु, राजा-प्रजा, सभी धर्म के बन्धन से बंधे हैं। जिस प्रकार आकाश में प्रत्येक नक्षत्र और ग्रह अपने मार्ग में स्थिर है, न वहां भय है, न स्खलन; इसी प्रकार जीवन में अपने धर्म पर ध्रुव रहते हुए हम दूसरों से बिना टकराये प्रगति कर सकते हैं। क्षणभर के लिए कल्पना कीजिये कि जीवन में नीति और अनीति के बन्धन टूट जायं, उस समय समाज और मानव की कैसी शोचनीय दशा होगी ? यही लोकसंकर है, जिसके स्मरणमात्र से भारतीय समाजशास्त्री कांप उठते थे।

वाल्मीकि ने सुन्दरता से कई स्थानों पर इसका परिचय दिया है कि यदि धर्म की मर्यादाएं टूट जातीं, सत्य के बांध ढीले पड़ जाते, तो राय और भरत जैसे धीर पात्र भी किस प्रकार आचरण कर बैठते। आखिर मनुष्य के भीतर क्षमा भी है, क्रोध भी; धर्म भी है, अधर्म भी; सत्य भी है, असत्य भी। एक ही जगह ये द्वन्द्व रहते हैं। धीर मनुष्य वही है जो इनके दिव्य भाव को ग्रहण करता है। श्रुति का ज्ञान रखनेवाले पुरुष भी जब रजोगुण में सन जाते हैं तभी महान् अनर्थ उपस्थित होता है। राम धर्म-बन्धन से च्युत होकर क्या करते ? हे लक्ष्मण, मैं अकेला ही क्रुद्ध होकर इस अयोध्या को और सारी पृथिवी को अपने बाणों से नष्ट करके अपना अभिषेक कर सकता हूं, पर अधर्म से डरता हूं (अयो० ५३। २५, २६)। कल्पना कीजिये उस अयोध्या की, जिसमें राज्य लेने के लिए राम बाणों का प्रयोग करते। क्या फिर हमें वहां स्वर्ग का वह सौरभ मिल सकता जो आज

तक फैला हुआ है ? भरत को यदि धर्म का बन्धन बांधकर न रखता तो क्या करते, इसका उत्तर उन्हीं के मुंह से सुनने योग्य है।

धर्मबन्धेन बद्धोस्मि तेनेमां नेह मातरम्।
हन्मि तीव्रेण दंडेन दंडार्हां पापकारिणीम्॥ (अयो० १०६।९)

अर्थात्—"मैं धर्मबन्धन से बंधा हुआ हूं, इसीलिए पापकारिणी दंड के योग्य माता को तीव्र दंड से मारे बिना छोड़ता हूं।" भरत क्रोध में भरकर कैकेयी को मार डालते और फिर उस पाप के दु:ख से सम्भवत: अपनी भी हत्या कर लेते। धर्म-बन्धनों के टूटने का कैसा घातक परिणाम होता, इसकी कल्पनामात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। ये वे भरत हैं, जिनके लिए गोस्वामी ने यथार्थ ही लिखा है—

जो न जनम जग होत भरत को।
सकल धरम धुरि धरणि धरत को॥

ठीक ही है, राम ने, सीता ने, लक्ष्मण ने, एक-एक धर्म का पालन किया। यदि वे ऐसा न करते तो उनकी गणना प्राकृत जीवों में होती। पर यह भरत ही हैं जिन्होंने सब पात्रों के धर्म की धुरी को अपने कन्धों पर रखकर पूरा उतारा। भरत अड़ जाते तो राम का धर्म, दशरथ का धर्म, लक्ष्मण और सीता का धर्म, सभी संकट में पड़ जाते।

धर्म से स्खलित होकर दशरथ क्या करते? "हे राम, कैकेयी ने मुझे मोहित करके वरदान ले लिया है, तुम मुझे कैद करके अयोध्या के राजा बनो।" परन्तु जिन राम से दशरथ ने यह प्रस्ताव किया, उनके लिए वाल्मीकि सबसे पहले 'धर्म-भृतां-वर' विशेषण रखते हैं (अयोध्या० ३४।२७)। राम ने उत्तर में यह गीत गाया :

इयं सराष्ट्रा सजना धनधान्यसमाकुला।
मया विसृष्टा वसुधा भारताय प्रदीयताम्॥

अर्थात्—"धन, धान्य, राष्ट्र और जनों से भरी हुई यह पृथिवी भरत को दो, इसमें सोच-विचार का स्थान नहीं है, मुझे राज्य नहीं चाहिए।"

राम की माता, दशरथ की अग्रमहिषी कौशल्या धर्म को भूलकर क्या करती? "हे राम, मैं बड़ी मन्दभाग्या हूं। न जाने मुझे सपत्नियों के कौन-कौन

से वाग्बाण सुनने पड़ेंगे ? मेरे व्रत, दान, और संयम सब ऊसर में बोये हुए बीज की तरह व्यर्थ चले गये। हे पुत्र, माता तुम्हारे लिए वैसे ही है जैसे पिता हैं, वैसे ही माता का कहना मान्य है । मैं तुम्हें वन जाने की आज्ञा नहीं देती ।"[१]

कोई भी साधारण माता और क्या कहती ? परन्तु धर्मज्ञ राम माता को स्मरण दिलाते हैं :

पितुर्नियोगे स्थातव्यमेष धर्मः सनातनः ।

"हे देवि, राजा दशरथ, हमारे-तुम्हारे दोनों के गुरु हैं, उनकी आज्ञा ही गति और धर्म है ।" लक्ष्मण तो धर्मबन्ध के अभाव में साक्षात् ज्वालामुखी ही थे । कौशल्या के विलाप को सुनते ही उनका अवरुद्ध हृदय फूट पड़ता है, वह कौशल्या से राम के सामने ही कहते हैं—"हे देवि, राम का वन जाना मुझे तो कुछ नहीं जंचता । बूढ़े राजा विषयान्ध थे । नहीं तो कौन राम-जैसे देवकल्प पुत्र को वनवास दे देगा ? जबतक यह खबर फैलने न पावे तभीतक राज्य अपने हाथ में कर लेना चाहिए । किसकी शक्ति है जो मेरे सामने आवे ? आज अयोध्या को मैं सुनसान बना दूंगा ? यदि भरत का कोई साथी मेरे सामने युद्ध के लिए आयेगा, यदि पिता कैकेयी के साथ हों तो उनका भी बन्ध या वध कर देना चाहिए । उत्पथ में गये हुए का शासन करना ही पड़ता है (**अयो०सर्ग २१।१२-१३**)।" कौशल्या ने राम से कहा—"हे तात, तुमने लक्ष्मण की बात सुनी ! जो धर्मानुकूल जान पड़े, करो।" परन्तु धर्मज्ञ राम को लक्ष्मण का झटपट राज्यहरण का यह प्रस्ताव बिल्कुल पसन्द न आया । उन्होंने समझाया—"हे लक्ष्मण, तुम्हारे स्नेह को मैं जानता हूं । इस अनार्य-बुद्धि को दूर करो ।"

कैकेयी जब औचित्य भुलाकर सीता को वल्कल पहनाने लगती है, तो वसिष्ठ जैसे शान्त और सदा एकरस रहनेवाले व्यक्ति भी, रो पड़ते हैं । वे कहते हैं—"हे कुलपांसिनी, दुर्बुद्धि, राजा को ठगकर तुम मर्यादा भूल गई हो । सीता वन को नहीं जायंगी, केवल राम के लिए ही तो वनवास हुआ है । गृहस्थ आश्रम स्वीकार करनेवालों के लिए स्त्री उनकी प्रतिनिधि और

---

[१] **अयोध्याकांड, सर्ग २०।२१।**

साक्षात् अपना आपा है। इसलिए सीता राम की जगह गद्दी पर बैठेगी (अयोध्या० ३७।२२-२४)।

वसिष्ठ ने बात तो धर्मशास्त्र के अनुकूल कही। मनु ने भी कहा है, **यो भर्ता सा स्मृतांगना**, जो पति है वही पत्नी है। पर जीवन का जो सत्य है, वह कानून की बारीकियों का मुंह नहीं देखता। धर्मबन्ध की दृष्टि का प्रस्ताव राम को और स्वयं सीता को भी मान्य नहीं हो सका।

वाल्मीकि मनुष्य को मनुष्य करके जानते हैं। मनुष्य कैसा ही पूर्ण क्यों न हो, उसमें निर्बलता के लक्षण आ ही जाते हैं। सीता के अपहरण के बाद राम के धैर्य का बांध टूट जाता है। वे क्रोध के वशीभूत होकर अपनी सुधबुध भूल जाते हैं, "हे लक्ष्मण, यदि सीता कुशलपूर्वक मुझे न मिलीं, तो त्रिलोकी को मृत्यु के मुख में पहुंचा दूंगा। मेरे बाणों से आज सारा जगत् मर्यादा के बिना अस्तव्यस्त हो जायगा। हे लक्ष्मण, जिस प्रकार जरा और मृत्यु, काल और विधाता, टाले नहीं टलते, उसी प्रकार मेरा क्रोध अनिवार्य है।" राम के अदृष्टपूर्व क्रोध को देखकर लक्ष्मण उन्हें शान्त करते है, "राजाओं को युक्तदंड अर्थात् अपराध के अनुसार दंड देनेवाला होना चाहिए। पहले मृदु और दान्त होकर अब क्रोध के कारण अपनी प्रकृति को छोड़ देना आपको शोभा नहीं देता। यदि आप-जैसे पुरुष भी इस दुःख को न सह सकेंगे तो क्या सामान्य और अल्प-सत्त्ववाले व्यक्ति सह सकेंगे? संसार में किसको आपत्तियां नहीं आतीं ? यह लोक का स्वभाव ही है। पर आपके जैसी बुद्धि रखनेवाले प्रज्ञावान् पुरुष दैव के सामने शोक नही करते। जगत् की माता सर्वलोक-नमस्कृता जो भूमि है वह भी कंप से विचलित हो सकती है, पर धीर पुरुष धर्म से विचलित नहीं होते।"[1]

वस्तुतः सत्य ही जिसका दूसरा नाम है, ऐसा धर्म पृथ्वी और आकाश का आधार है।

सत्येनोत्तभिता भूमिः सत्येनोत्तभिता द्यौः। (अथर्व०)

धर्म की कल्पना को यहां के विचारकों ने उसी शाश्वत मूल पर प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया है। जिस प्रकार पर्वत, नदियां, आकाश

---

[1]**अरण्यकांड, सर्ग ६४, ६६।**

और नक्षत्र प्रकृति में ध्रुव हैं, उसी प्रकार सत्य भी ध्रुव है। इस विषय में वाल्मीकि का दृष्टिकोण शुद्ध भारतीय है।

वाल्मीकि के अनुसार, राजा की गद्दी राष्ट्र के कल्याण का हेतु है। प्रजाओं का न्याय और धर्म से परिपालन, यही राजा का प्रधान कर्त्तव्य है। राजा ही साधु और असाधुओं को अलग-अलग रखता है। राष्ट्र और लोक-पक्ष के समर्थन में वाल्मीकि का मत ऊपर लिखा जा चुका है। वाल्मीकि अराजक राष्ट्र को एक क्षण के लिए भी नहीं सह सकते। अराजक राष्ट्र घोर जंगलीपन है जिसमें सब प्रकार की मर्यादाओं का लोप हो जाता है। अराजक राष्ट्र के वर्णन में वाल्मीकि ने एक गीत दिया है, वह संस्कृत-साहित्य में अद्भुत है। उसी से उनके राष्ट्रीय आदर्श का सम्यक् परिचय मिलता है—

अराजक राष्ट्र विनाश को प्राप्त हो जाता है।

अराजक जनपद में मेघ दिव्य जल से पृथ्वी को नहीं सींचते।

अराजक जनपद में बीज की मूठ खेतों में नहीं बखेरी जाती।

अराजक देश में पुत्र पिता के और स्त्री पति के वशीभूत नहीं रहती।

अराजक राष्ट्र में न धन रहता है, न स्त्री। सत्य अराजक स्थान में कहां रह सकता है?

अराजक देश में मनुष्य सभा नहीं कर पाते, प्रसन्न होकर उद्यान और घर नहीं बनवा सकते।

अराजक देश में यज्ञ करनेवाले ब्राह्मण व्रत ग्रहण करके सत्रों में नहीं बैठ पाते।

अराजक देश में यज्ञशील धनी ब्राह्मण भी महायज्ञों में रत्नों से पूर्ण पूरी दक्षिणा नहीं देते।

अराजक देश में राष्ट्र की वृद्धि करनेवाले नट और नर्तकों से युक्त समाज और उत्सव नहीं हो पाते।

अराजक देश में व्यवहार करनेवालों के मनोरथ पूरे नहीं होते। कथा-प्रिय लोग कथा कहनेवालों के साथ प्रेम नहीं रखते।

अराजक देश में सायंकाल के समय कुमारियां स्वर्ण के अलंकार पहन-कर उद्यानों में क्रीड़ा के लिए नहीं जा पातीं।

अराजक देश में धनी लोग, जो कृषि और गोरक्षा से जीविका करते हैं, सुरक्षित रहकर घर के किवाड़ खोलकर नहीं सो सकते।

अराजक देश में शीघ्रगामी वाहन और यानों पर स्त्री-पुरुष वन में घूमने नहीं जा सकते।

अराजक देश में साठ वर्ष के जवान हाथी घंटे बांधकर राजमार्गों पर झूमते हुए नहीं निकलते।

अराजक देश में बाण चलाने का अभ्यास करनेवाले योद्धाओं का टंकार-घोष नहीं सुनाई पड़ता।

अराजक देश में दूर की यात्रा करनेवाले वणिक बहुत-सी पण्य-सामग्री लेकर कुशलपूर्वक मार्गों में नहीं चल सकते।

अराजक देश में आत्मा से आत्मा का ध्यान करनेवाले, अकेले विचरनेवाले, जहां सांझ हो वहीं बसेरा करनेवाले मुनि कुशल से नहीं रह पाते।

अराजक देश में योग और क्षेम का नाश हो जाता है। अराजक राष्ट्र की सेना शत्रुओं से युद्ध नहीं करती।

अराजक देश में अलंकृत मनुष्य प्रसन्न अश्वों और रथों पर चढ़कर नहीं चल सकते।

अराजक देश में शास्त्रविशारद मनुष्य वनों और उपवनों में शास्त्र की चिन्ता करते हुए एक-दूसरे से नहीं मिलते।

अराजक देश में जितेन्द्रिय पुरुष माला, मिष्ठान्न और दक्षिणा से देवताओं की पूजा नहीं कर सकते।

अराजक देश में राजकुमार लोग चन्दन और अगरु से देह सजाकर वसन्त में धान की तरह सुशोभित नहीं होते।

जैसे बिना जल के नदी, बिना घास के वन और बिना गोपाल के गौएं होती हैं, वैसे ही बिना राजा का राष्ट्र होता है।

अराजक देश में मनुष्य का कुछ भी अपना नहीं होता। जल में मछलियों के समान मनुष्य एक-दूसरे को हडपने लगते हैं।

वर्णाश्रम की मर्यादाएं जिन्होंने तोड़ दी हैं, जिन्हें पहले राजदंड दिया जाता था, वे नास्तिक लोग निडर होकर अराजक राष्ट्र में प्रभावशाली बन जाते हैं।

जिस प्रकार शरीर के हित-अहित की प्रवर्त्तक आंख है, उसी प्रकार राष्ट्र में जो सत्य और धर्म है, उनका प्रवर्त्तक राजा है।

राजा सत्य और धर्म है, कुलीनों का कुल है। राजा माता-पिता और राजा ही हितकारी है।

अन्त में महाकवि राष्ट्र और राजा की महिमा और कर्तव्य को सर्वोच्च पद पर पहुंचा देते हैं :

यदि साधु-असाधुओं का पृथक् विभाग करनेवाला राजा इस लोक में न होता, तो जैसे दिन अन्धकार में विलीन हो जाता है, वैसे ही सबकुछ तम में डूब जाता।[1]

: १६ :

परीक्षित का सर्प

पुराणों की कथा है कि राजा परीक्षित ने अज्ञानवश तक्षक नाम का एक सर्प शमीक ऋषि के गले में डाल दिया था। ऋषि के शाप से उसी तक्षक ने सात दिन के भीतर ही परीक्षित को डस कर उसके जीवन का अन्त कर डाला। परीक्षित ने जिस समय ऋषि के शाप का समाचार सुना, वह घबरा गया। अपनी आयु को सात ही दिन में समाप्य जान कर उसके मन में विषयों से वैराग्य हो गया। परीक्षित की अनुभूति मृत्यु के विषय में इतनी तीव्र हो उठी कि फिर उसका चित्त सांसारिक भोगों से एकदम विरक्त हो गया। वह सात ही दिन में कुछ परलोक सुधार लेने की आकांक्षा से योगस्थ हो गंगा के किनारे आसन मार कर बैठ गया। देश के राजा को इस प्रकार साम्परायिक विचार में लीन जानकर ज्ञान-मार्ग में निष्णात ऋषि और विरक्त लोग गंगा-तट पर एकत्र होने लगे। उसी समय परम योगीश्वर

---

[1] अहो तम इवेदं स्यान्न प्रज्ञायेत किंचन।
राजा चेन्न भवेल्लोके विभजन्साध्वसाधुनी॥
(अयोध्या० ६७।३६)

विरक्त महात्मा शुक भी उस ऋषि-सभा में जा पहुंचे। उनको देखकर वह परिषद् सम्मानपूर्वक उठ खड़ी हुई। फिर श्री शुकदेवजी के बैठने पर सब लोगों ने यथावत् आसन ग्रहण किया। ऋषियों ने कहा—"हे परीक्षित, तेरा बड़ा सौभाग्य है जो परम तपस्वी और विरागी श्री शुकदेवजी का इस समय यहां आगमन हुआ, इनके उपदेश से तेरा परम कल्याण होगा।"

यह जानकर परीक्षित ने हाथ जोड़ कर विनय की—"महाराज, मुझे अब केवल सात ही दिन में मृत्यु के मुख में चले जाना है। किस प्रकार मेरा निस्तार होगा, सो कृपा कर कहिये!" उत्तर में श्री शुकदेवजी ने कहा—"हे परीक्षित, ज्ञान तो एक क्षण में ही होना सम्भव है। पहले कभी इतिहास में राजा खट्वांग की दो ही घड़ी में मुक्ति हो गई थी, तुम्हारे लिए तो सात दिन बहुत हैं।" इतना कहकर शुकदेवजी परमपुरुष नारायण के, जो पिण्ड और ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले हैं और जो वामन-रूप से सबमें रमे हुए हैं, चरित्रों का निर्वाचन करने लगे और उस अध्यात्म-चर्चा से परीक्षित का चित्त इस प्रकार समाधिमान् हो गया कि सात दिन के अन्त में उसने कहा कि यदि तक्षक मुझे अभी डस ले और इसी क्षण मुझे देह से विलग होना पड़े तो भी मुझे खेद नहीं होगा। मेरा अब वह पूर्व देहाभिमान विगलित हो गया है। मेरा अनुभव देही के देह त्यागने में इस प्रकार है, जैसे सर्प अपनी जीर्ण त्वचा को त्याग कर पृथक् हो रहता है—

"अहिर्हि जीर्णमतिसर्पति त्वचम्" (तै० ब्रा०)

इस मनोहर कथा का तात्पर्य क्या है? जिस विद्वान् लेखक ने इस रमणीय कथा के सम्पुट में अपने भव्य ग्रन्थ का ठाठ बांधा है, उसीने अपने अन्तिम अध्याय में इसका विवरण इस प्रकार दिया है: काल ही वह तक्षक सर्प है, जो हममें से प्रत्येक के गले में पड़ा हुआ है। जिसका देहाभिमान मिट गया है उसका तक्षक कुछ नहीं बिगाड़ सकता। जिसका देहाभिमान अभी बना है, उसी को तक्षक का भय है। काल सब भूतों को पचाने वाला है, यही यहां सच्ची वार्ता है। जितने समाचार दिन-रात के मध्य में प्रकट होते हैं, उनमें यही समाचार प्राणियों के लिए सबसे अधिक महत्त्व रखता है—

प्रकृति-नटी का नव नृत्य क्षण-क्षण में
यंत्रारूढ़ प्राणियों को माया से नचा रहा।
मोह के कटाह में रात्रिन्दिव इन्धन से
उग्र काल भूतों को सस्य-सम पचा रहा।।

सबके जीवन को क्रम-क्रम से रन्दने वाला परमतक्षा यह तक्षक काल है। इसके तक्षण से कोई मुक्त नहीं। परन्तु जिनका देहाभास मिट चुका है, वे इस तक्षण से विचलित नहीं होते। जो देह को ही सर्वस्व मानकर भूले हुए हैं उनको तक्षक का स्मरण-मात्र भी कंपा देता है। इस महातक्षा का रन्दा एक सप्ताह है। इन सात दिनों की आवृत्ति पुनः-पुनः होती है। सप्ताह-रूपी रन्दे या बसूले से तक्षक काल सबकी जीवनावधि को निरन्तर घड़ रहा है। तक्षक को सांप कहा गया है। तक्षक का धर्म ही सर्पणशील है। तक्षक-रूप काल कभी खड़ा नहीं होता। सूर्य के रथ की नेमि के समान तक्षक सर्प संतत सर्पण करता रहता है। जिस प्रकार सूर्य की रथ-नेमि कभी नहीं रिसती (क्योंकि वह अरिष्ट नेमि है) वैसे ही सबको जीर्ण करके मृत्यु-मुख में भेजने वाला तक्षक स्वयं कभी जराग्रस्त नहीं होता। तक्षक काल निमेष रूप से स्वल्प है, कल्प रूप से महान् है। वह महाशेष रूप से सबको ग्रस लेता है। असंख्य देवता इस तक्षक महाशेष की कुक्षि में न जाने कहां पच जाते हैं। यदि हम अनन्त काल तक अथवा लोमश की आयु तक कल्प के ऊपर कल्प की गणना करते चले जायं तो भी तक्षक-काल का पारावार नहीं पा सकते।

परीक्षित स्वयं देह-मोह में ग्रस्त था। वह भ्रम से तक्षक को उस ऋषि के गले में पड़ा हुआ समझता था जो ध्यान और तप से तक्षक के भय से अतीत हो चुका था। ऋषि काल-रूपी तक्षक का पात्र नही था। उसने तो 'वासांसि जीर्णानि' मन्त्र का साक्षात् कर लिया था। तक्षक का पात्र तो परीक्षित स्वयं था। वह जड़ाभिमान-ग्रस्त था। अतएव सर्प उलट कर उसी को डसने का आयोजन करता है। ऋषि के गले में जो तक्षक मृत है राजा के गले में वही जीवित हो कर पड़ा है। इस आशीविषी सर्प से बचना परीक्षित के लिए अशक्य है। सारा राज्य, वैभव, प्रलयंकारी सेनाएं उसकी रक्षा नहीं कर सकतीं। गूढ़ातिगूढ़ राजभवन, जिनमें भय का समस्त कारण समाप्त हो गया हो, तक्षक के दंश से परीक्षित को नहीं बचा सकते। परीक्षित को जन्म-

पत्री में ही मृत्यु के अंक पड़े हों, तो आस्तीक का भैषज्योपचार क्या काम दे सकता है ? मय, आस्तीक और परीक्षित—कोई भी ब्रह्मा के विधान को नहीं मेट सकता। जो कच्चा दूध पीकर उतरा है, उसे एक दिन अवश्य ही चिता-भस्म का अंगराग लगाना होगा।

फिर बेचारे परीक्षित के लिए क्या उपाय है ? उसके त्राण की बस एक ही गति है अर्थात् तक्षक के अवश्यम्भावी दंश से पहले ही परीक्षित के हृदय में ज्ञान का प्रकाश हो जाना। विषयों से वैराग्य, ईश्वर में भक्ति, आत्मा का ज्ञान, सबका फल एक ही है—

ज्ञानहिं भक्तिहिं नहिं कछु भेदा।
उभय हरहिं भव-सम्भव खेदा॥

बिना देहाभिमान से मुक्त हुए काल-सर्प का भय बना ही रहेगा—

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र-यत्र मनोयाति तत्र-तत्र समाधयः॥

ज्ञान कितनी देर में होता है, कितनी बार राम कहने पर मुक्ति मिलती है, ये प्रश्न अज्ञानजनित हैं। परमार्थ वस्तु काल-संख्या से अतीत है। उसकी उपलब्धि में काल और संख्या बाधक नहीं है। परीक्षित ने समझा—मेरे लिए सात दिन थोड़े हैं। शुकदेव ने कहा, सात दिन तो बहुत होते हैं, ज्ञान तो क्षण भर में सम्भव है। ज्ञान एक ज्योति है। उसके प्रकाश के लिए समय की अपेक्षा नहीं। जिस क्षण मन विषयों से विरक्त हो जाता है और इन्द्रियां अन्तर्मुखी हो जाती हैं, प्रकाश झलकने लगता है। आवरण का नाश ही प्रकाश का दर्शन है। इसके लिए साधन काम देते है, पर एक हद तक ही। उससे आगे ज्ञान साधनों से स्वतंत्र है। तभी तो उपनिषदों में कहा है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य—
स्तस्यैव आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

आत्मा जिसका वरण करती है, उसको ही अपना रूप दिखा देती है। यह एक स्वयंवर है। आत्मा ही इसमें वर है—

आत्मा हि वरः (तैत्ति० ३।१२।५।७)

ज्ञान की गति शुक-गति है। शुक की उड़ान की भांति ज्ञान किधर से आया, किधर को गया, इसका कोई निशान रास्ते में नहीं दीख पड़ता। निरन्तर अभ्यास एवं परमात्मा की अपार कृपा से विरक्त मन जब समाधि-युक्त हो जाय, तभी मानो सब व्याधियों में प्रबल काल-सर्प की व्याधि से मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

: १७ :

च्यवन और अश्विनीकुमार

ब्राह्मण-ग्रन्थ और पुराणों में एक सुन्दर कथा आती है, जिसका सार यह है कि बुड्ढे, जीर्ण-शीर्ण च्यवन ऋषि को अश्विनी कुमारों ने फिर से युवा बना दिया। अश्विनी कुमार देवों के वैद्य थे। उन्हें वैद्य होने के कारण सोमयाग में भाग नहीं मिलता था। उन्होंने च्यवन से कहा—यदि हम तुम्हें फिर से युवा बना दें तो हमें क्या मिलेगा? च्यवन ने कहा—हम तुम्हें देवताओं के सोमयज्ञ में सोम का भाग दिलावेंगे। अश्विनी कुमार प्रसन्न हुए। उन्होंने च्यवन को यौवन दिया और स्वयं सोमपान के अधिकारी हुए।

इस कथा का क्या अभिप्राय है? अश्विनी कुमार कौन हैं, च्यवन कौन हैं? कैसे वे वृद्धावस्था को त्याग कर युवावस्था को प्राप्त कर सके? सोम क्या है और उसका पान करने से अश्विनी कुमारों का कल्याण क्यों हुआ? इन प्रश्नों का उचित समाधान यदि हम समझ सकें तो प्राचीन भारतवर्ष की वाजपेय विद्या या यौवन-प्राप्ति के उपायों के सम्बन्ध में हम बहुत-कुछ जान लेंगे।

वेदों में अश्विनी कुमार को देवताओं का वैद्य या दैवी भिषक् कहा गया है। "हे देवताओं के भिषक्, अश्विनी कुमारो, अपनी शक्ति के द्वारा मृत्यु को हमसे दूर करो।"

प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद् देवानामग्ने भिषजा शचीभिः।

(अथर्व० ७।५३।१)

वे दिव्य वैद्य कौन-से हैं, जो समस्त ब्रह्माण्ड की चिकित्सा करते हैं, जिनकी विद्यमानता में मृत्यु का आक्रमण नहीं हो पाता ? इस प्रश्न का उत्तर भी अगले मंत्र में स्पष्ट कर दिया है—

संक्रामतं मा जहीतं शरी ं प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम् ।
शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः ॥
(अथर्व० ७।५३।२)

अर्थात्—हे प्राण और अपान, तुम इस शरीर में बराबर संचरण करते रहो, शरीर को छोड़ कर मत जाओ, तुम दोनों जोड़ीदार (सयुजौ) होकर, संयुक्त सखा की तरह रहो । हे मनुष्य, तुम निरंतर वर्धमान या वर्धिष्णु होते हुए सौ वर्षों तक जीवित रहो । वसिष्ठ अग्नि तुम्हारा रक्षक है । इस मंत्र में स्पष्ट ही अश्विनी कुमारों की व्याख्या करके बताया गया है कि प्राण और अपान ही सदा साथ रहने वाले अश्विनी हैं । अश्विनी की एक संज्ञा नासत्य है, नासिका में संचरण करने वाले श्वास-प्रश्वास-रूप प्राणापान ही नासत्य हैं । जैसा कहा है—

नसोर्मे प्राणो अस्तु

प्राणापान नामक अश्विनी कुमार देवताओं के वैद्य क्यों हैं ? भारतीय विचारकों के अनुसार चिकित्सा-पद्धति तीन प्रकार की होती है—

१. आसुरी—चीर-फाड़ के द्वारा, शल्यादि
२. मानुषी—काष्ठादि औषधियों के द्वारा
३. दैवी—प्राणायाम योगादि के द्वारा

ग्रन्थियों की शल्य-क्रिया के द्वारा यौवन की प्राप्ति आसुरी विधि है । काष्ठादि औषधियों की सहायता से शरीरस्थ रसों की जीर्णता दूर कर के उनमें नवीन बल उत्पन्न करना अधिक उत्तम और स्थायी होता है, क्योंकि इसमें रोगी के मन का भी किसी हद तक संस्कार होता है । मन की शक्ति से शरीर का स्वास्थ्य और रसों की पवित्रता उत्पन्न होती है । क्रोध-चिन्तादि मानसिक व्याधियों के कारण ही शरीर में लगभग चालीस प्रकार के विष उत्पन्न होते हैं । उन विषों को दूर करके शरीर की नस-नाड़ियों को निर्विष बनाना मन के शान्त-शिवात्मक संकल्पों का काम है ।

प्राणायाम के द्वारा यह कार्य सर्वश्रेष्ठ रीति से सिद्ध होता है। नाड़ी-शुद्धि और निर्विषता की प्राप्ति के लिए आसन और प्राणायाम के समान गुणकारी दूसरा उपाय नहीं है। इसलिए प्राण-विद्या की चिकित्सा-प्रणाली को दैवी माना गया है। वस्तुतः प्राण ही अमृतत्व है। जहां प्राण हैं वहीं अमृत है। मर्त्य शरीर को अमर बनानेवाले प्राण ही हैं।

प्राणा एवामृता आसुः शरीरं मर्त्यम्। (श० १०।१।४।१)

प्राणों के द्वारा यजमान अथवा प्राणिमात्र हम सब अपने आपको अजर-अमर बना रहे हैं। सनातन योगविधि, जिसका यम ने नचिकेता को उपदेश दिया, प्राण-विद्या ही है। इस से आयुःसूत्र का संवर्धन तथा अजर, अमर, अरिष्ट स्थिति प्राप्त होती है। वैदिक उपाख्यानों में सोम का और अमृत का घनिष्ठ सम्बन्ध है। सोम ही अमृत है। सोम भी प्राण और अमृत भी प्राण है। परन्तु यहां सोम-विद्या के सम्बन्ध में अधिक न लिख कर प्रस्तुत उपाख्यान को ही स्पष्ट करना अभीष्ट है।

शरीर की प्राण-शक्ति का स्वास्थ्य, आदान और विसर्ग की क्रिया की स्वस्थता पर निर्भर है। इसी को मिटैबालिक रेट (Metabolic rate) भी कहते हैं। वस्तुतः प्राणोत्पादिनी जीवन-शक्ति ही सबकुछ है। कभी यह वर्धिष्णु या वर्धमान रहती है, जैसे किशोरावस्था में। उस अवस्था को ऐनेबोलिक कंडीशन (Anabolic condition) कहते हैं। कभी, जैसे बुढ़ापे, में यह शक्ति क्षयिष्णु हो जाती है, छीजने लगती है। तभी मृत्यु का आक्रमण होने लग जाता है। शरीरस्थ स्नायु, मज्जा, रस सभी पर वृद्धावस्था या जीर्णता का प्रभाव पड़ता है। शक्ति का आधार आधिभौतिक है, इस कारण शरीर की धातुएं जीर्ण या जराग्रस्त होने लगती हैं। यदि हम इस क्षयिष्णु प्रवृत्ति को रोकना चाहें, तो शरीरस्थ रस और धातुओं को स्वस्थ और निर्मल बनाना आवश्यक है। इस क्षयशील दशा का नाम ही च्यवन-स्थिति है। इस स्थिति में शरीर का ह्रास होने लगता है। व्याधि, जरा, जीर्णता, मृत्यु—सब च्यवन के ही रूप हैं।

मनुष्य की शक्ति की एक संज्ञा 'वाज' है। वाज को वीर्य या रेत भी कहा जाता है। वाज का पान करने वाले जो कर्मकाण्डी थे उनको ही वाजपेय कहा जाता था। शरीरस्थ रेतःशक्ति को शरीर में ही पचा लेना सफल वाजपेय

है। उस जीवन-रस को क्षीण कर डालना वाज की हानि है। जिस देह में से वाज रिस रहा हो, वह कभी पुष्ट नहीं हो सकती। वाज से शून्य व्यक्ति को पुनः वाज-सम्पन्न बनाना ही वाजीकरण-विधि है, जिसका वर्णन आयुर्वेद के वाजीकरण तन्त्रों में आता है। जिस शरीर में वाज भर रहा हो, जहां ब्रह्म-चर्य की धारणा निष्कलंक हो, उसका प्राण भरद्वाज कहलाता है। च्यवन-प्राण का उलटा भरद्वाज-प्राण है। भरद्वाज-प्राण वाज का पान करने वाला अथवा वाजपेयी होता है। पुनःयौवन की प्राप्ति के लिए, धातु और रसों की शुद्धि के लिए प्राकृतिक चिकित्सकों ने जो अनेक उपाय बताये हैं और जो अर्वाचीन काल के आयुर्विज्ञान के पुष्पित कमल के समान अत्यन्त आदर भाव से देखे जाते हैं, उन सबका समावेश प्राण-विद्या या वाजपेय-विद्या में समझना चाहिए। भारतीय ऋषियों ने आयुष्य-सवर्धन और स्वास्थ्य-संपादन के प्रकृति-सिद्ध विधानों की ओर कुछ कम ध्यान नहीं दिया था। वस्तुतः उन्होंने इस विषय के जितने गम्भीर रहस्य जान लिये थे, उनका यथार्थ परिज्ञान हमारे समय के लिए बहुत ही श्रेयस्कर हो सकता है। शरीर के भीतर जो प्राण की गर्मी है, वही प्राणाग्नि हमको नीरोग बनाती है। औषधियां तो उपचारमात्र हैं। शरीर की अत्यन्त अद्भुत और चमत्कारिणी शक्ति ही प्राकृतिक चिकित्सकों का विश्वसनीय शस्त्र है। इसी के द्वारा शरीर की रक्षा, आयुष्य की वृद्धि और रोगों की निवृत्ति होती है। इसी तनूपा अग्नि को सम्बोधन करके हम इस संकल्प का पाठ करते हैं—

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि, आयुर्दा अग्नेऽसि आयुर्मे देहि,
वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि, अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण।

अर्थात्—हे अग्नि, तुम तनूपा हो, मेरे शरीर की रक्षा करो;
हे अग्नि, तुम आयु की देने वाली हो, मुझे आयु दो;
हे अग्नि, तुम वर्चस्व की देने वाली हो, मुझे वर्चस् दो;
हे अग्नि, मेरे शरीर में जो कमी हो उसे पूरा करो।

यहां अग्नि का प्राण अर्थ कुछ हमारे मन की कल्पना नहीं है। उपनिषदों और ब्राह्मणों में अनेक बार अग्नि का प्राण अर्थ किया गया है। यथा—

प्राणो अमृतं तद् हि अग्नेः रूपम् । (शतपथ १०।२।६।१८)
प्राणो वाऽअग्निः । (श० २।२।२।१५)
तदग्निर्वै प्राणः (जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण—३।२२।११।)
प्राण अग्निः । (श० ६।३।१।२१)
ते वा एते प्राण एव यद् आहवनीय गार्हपत्यान्वाहार्य पचनाख्या अग्नयः (शत २।२।२।१८)

इनका तात्पर्य यही है कि प्राण ही अग्नि है । यज्ञ में जो गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय नामक तीन अग्नियों की स्थापना की जाती है, उनका क्या अर्थ है इस सम्बन्ध में प्रश्न-उपनिषद् में लिखा है—

प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति । गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानः, व्यानोऽन्वाहार्य पचनः, यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः, यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः, मनो ह वाव यजमान इष्ट फलमेवोदानः, स एनं जयमानमहरहर्ब्रह्म गमयति ।
(प्र०उ० ४।३-४)

अर्थात्—इस शरीर-रूपी ब्रह्मनगरी में प्राणाग्नियां सुलगती रहती हैं (उस समय भी जब अन्य इन्द्रियादि देव सो जाते हैं) । गार्हपत्य अग्नि अपान, अन्वाहार्य पचन या दक्षिणाग्नि व्यान, और आहवनीय प्राण है । श्वास-प्रश्वास-रूप आहुतियों को साम्यावस्था में रखने वाला समान है । मन यजमान है, इष्टफल उदान है । वह इस मन को नित्य ब्रह्म के समीप ले जाता रहता है ।

इस प्रकार निष्पक्षपात होकर मनन करने से हमें प्राचीन यज्ञ-संबंधी परिभाषाओं के शाश्वत अर्थों का परिचय प्राप्त होता है । उनको जानकर हम प्राचीन भारतवर्ष के ज्ञान के अधिक सन्निकट पहुंचकर उसके नित्य मूल्य को पहचान लेते हैं । च्यवन और अश्विनीकुमार जैसी कथाओं के अर्थों को खोलने के लिए इन्हीं संशोधित परिभाषाओं का अवलम्बन आवश्यक है ।

प्रश्न है कि च्यवन ने जब अश्विनीकुमारों से यौवन मांगा तब बदले में क्यों अश्विनीकुमारों ने यह शर्त रक्खी कि यदि तुम हमें यज्ञ में सोम-पान कराओ तो हम तुम्हें यौवन दे सकते हैं ? इसको जानने के लिए सोम को

समझना आवश्यक है। वीर्य, रेत या शरीरस्थ रस का नाम ही सोम-रस है। केन्द्रीय नाड़ी-जाल औषधि-वनस्पतियां हैं जिनमें सोमरस भरा रहता है जो नीचे सुषुम्णा नाड़ी की शाखा-प्रशाखाओं को सींचता है। इस रस पर ही मस्तिष्क की समस्त चेतना निर्भर है। इस रस के सम्बन्ध में अर्वाचीन शरीर-शास्त्री भी अनेक आश्चर्यजनक महत्त्व की बातें बताते हैं। मस्तिष्क को सींचकर शुद्ध और बलवान् बनाना इसी रस का कार्य है। यह सोम-रस रेत या वीर्य-रूप से शरीर में सचित होता है। असंयम के कारण इसका शरीर से बाहर क्षय हो जाता है। जबतक प्राणायाम-रूप अश्विनीकुमार इस सोम को पी सकते हैं तबतक शरीर में जरा का आक्रमण नहीं होता। च्यवन की क्षीण शक्ति को फिर से अर्जित और वसिष्ठ बनाने के लिए यह आवश्यक है कि शरीर के सोमरस से उत्पन्न शक्ति शरीर में ही रहे, अर्थात् प्राणापान उस सोमरस का पान करें। यह शरीर भी एक यज्ञ है—

पुरुषो वै यज्ञः

इसके भीतर जो प्रकृतिक क्रियाएं होती हैं, उनका ही अनुकरण यज्ञ के कर्मकाण्ड में किया जाता है। शक्ति-संवर्धन के लिए सोम-रस या रेत का शरीर में पाचन अनिवार्य है, इसी कारण अश्विनीकुमारों ने च्यवन से यह प्रतिज्ञा कराई कि हम तुम्हें यज्ञ में सोम-पान का भाग अवश्य दिलावेंगे। च्यवन के तप से यह सम्भव हुआ। उसी की महिमा से च्यवन की जीर्णता दूर हुई। जो उचित प्रकार से सोम का पान कर के मन और शरीर की स्वस्थता का सम्पादन करता रहता है, वही सदा अरिष्ट, अजर, अमर रह सकता है। उसी के लिए कहा गया है—

प्रविशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्।
अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इव वर्धताम्॥ (अथर्व० ७।५३।५)

अर्थात्—प्राणापान इसके शरीर में प्रविष्ट होते रहें, जैसे गोष्ठ में दो अनड्वान् हों। स्तोता की यह निधि अरिष्ट (अक्षय) रूप में बढ़ती रहे। वह भी च्यवन के सदृश कह सकता है—

पुनः प्राणः पुनरात्मा न ऐतु
पुनश्चक्षुः पुनरसुर्न ऐतु।

वैश्वानरो नो अदब्धस्तनूपा
अन्तस्तिष्ठाति दुरितानि विश्वा ॥
सं वर्चसा पयसा सं तनूभि
रगन्महि मनसा सं शिवेन ।
त्वष्टा नो अत्र वरीयः कृणो-
त्वनु नो मार्ष्टु तन्वो यद्विरिष्टम् ॥
(अथर्व० ६।५३।२३)

अर्थात्—मेरे शरीर में प्राण, आत्मा, चक्षु और जीवन की पुनः प्रतिष्ठा हो। शरीर-रक्षक तनूपा अग्नि अधृष्य रहकर, सब दुरितों को हटाता रहे। वर्चस रस और तनु के साथ हमारा मेल रहे। हमारे शरीर में जो जीर्णता का अंश (विरिष्ट) हो, उसे त्वष्टा या शरीर के निर्माता प्राण धो डालें।

: १८ :

कृष्ण का लीला-वपु

सूरदास और उनके एकसौ एक बन्धु कवि व्रजभाषा में जिस काव्य की रचना कर गये हैं वह उनका तत्त्व-दर्शन के लिए हृदय से किया हुआ शुद्ध प्रयत्न था। व्रजभाषा की भक्ति-रस की कविता ने कई सौ वर्षों तक ज्ञान-तत्त्व की रक्षा के लिए समाज में वैसा ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था जैसा किसी समय उपनिषदों ने प्राप्त किया था। अनेक सन्त, महात्मा, साधक, आचार-शुद्ध भक्तों के ध्यान की साकार प्रतिमूर्ति व्रजभाषा की कविता है। इस काव्य और तुलसी के रामचरितमानस काव्य में एक अविनाशी अचिन्त्य ब्रह्म-तत्त्व की ही उपासना की गई है। जो व्यक्ति कृष्ण और राम को उस रूप में देखने या मानने में असमर्थ है, जिसमें सूर और तुलसी ने उन्हें देखा था, वह इस काव्य के बाह्य रूप से तो परिचित हो सकता है, इसमें अन्तर्निहित आनन्द-तत्त्व या रस-सिन्धु से उसका सान्निध्य नहीं हो सकता, अर्थात् मन नहीं जुड़ सकता।

सूर के कृष्ण साक्षात् परब्रह्म हैं। वैदिक साहित्य से लेकर भारतीय मस्तिष्क ने जिस चैतन्य तत्त्व की बराबर खोज की है, युग-युग में नये-नये नामों और रूपों में समाज ने जिसका अनुभव किया है, जनता के मानस को जिसने प्राणवन्त, उत्साहित और आनन्दित बनाया है, उसी आनन्द-घन चैतन्य तत्त्व को सूर ने 'कृष्ण' संज्ञा प्रदान की। सूरसागर में वे इस सत्य को कहते हुए नहीं थकते। कृष्ण के आनन्द-रूपी ब्रह्म-पक्ष का तिरोभाव होजाय तो उनकी लीला का रस ही जाता रहे, वह तो जड़ शरीर से होने-वाली चेष्टाओं की एक निरर्थक लड़ी बनकर रह जा सकती है।

कृष्ण के इस नित्य स्वरूप के साथ इतिहास को उलझन है। इतिहास मनुष्य को देशकाल में जड़कर पकड़ना चाहता है। वह सत्य घटनाओं को ढूंढ़ता है। लीला मानवी जीव की नित्य व्याख्या प्रस्तुत करती है। लीला-वपु रसमय और आनन्दी होता है। इतिहास का व्यक्ति काल के गाल में पड़ा हुआ बापुरा प्राणी है। जिन अभिप्रायों (मोटिफ्स) के अनुसार जीवन-रूपी कमल अपने आनन्द-केन्द्र आकाशस्थित सूर्य की प्रेरणा पाकर निज पंखुड़ियों का विकास करता है वे सदा सर्वत्र-सबके लिए एक हैं, एक सत्य उनका नियामक है। कमल के विकास के लिए अन्धकार का तिरोभाव चाहिए; उसे आन्तरिक जीवन, प्रेरणा, आनन्द, उल्लास, सौन्दर्य और रूप मिलना चाहिए, तभी उसका विकास सम्भव है। यह आदर्श स्थिति कमल की जीवन-लीला है, जो सब पद्मों के लिए आधारभूत सत्य है। एक कमल के जीवन में कौन-सा सरोवर था, कितने जल में वह खड़ा था, उसे पुष्ट करने वाले कर्दम में कितने रासायनिक तत्त्व थे, उनके कारण किस पंखुड़ी ने सूर्य-दर्शन के लिए पहले अपने नेत्र खोले, और किस भौरे ने उसका चुम्बन किया, इस प्रकार का लेखा इतिहास की उत्सुकता को अवश्य शान्त कर सकता है, किन्तु कमल की नित-नित घटनेवाली जीवन-लीला इससे अधिक व्यापक और अमृतमय है। आज हमारा शिक्षित मस्तिष्क ऐतिहासिक कृष्ण को पकड़ना चाहता है। हमारे मन के किसी परदे में ऐसी आशंका बनी रहती है कि जिस कृष्ण का जंजाल सूर ने खड़ा किया है वह हमारी बुद्धि को ठगने के लिए है। वैज्ञानिक बुद्धि बार-बार सूर के कृष्ण से टकराकर वापस लौट आती है। यह हमारे लिए बड़ा असमंजस बन जाता है। न तो हम

अपनी सत्यानुसंधान की नई पद्धति को ही छोड़कर जी सकते हैं और न उसके द्वारा चैतन्य को ही पकड़ पा सकते हैं। यह उलझन सच्ची है और मैं समझता हूं, इससे इन्कार करना बुद्धि की ईमानदारी न होगी; परन्तु ब्रह्मतत्त्व, चैतन्य या नित्य आत्मतत्त्व, इसी प्रकार की एक पहेली रही है जो पहले भी थी और आज भी है। हमारे लिए बुद्धिमानी यही होगी कि सूर ने कृष्ण का जो आदर्श लिया था उसे ही अपने मन की शक्ति से जीवित या प्राणमय बनाने का प्रयत्न करें। कम-से-कम सूर के मन में तो कृष्ण उस ब्रह्मरूप में ही सत्य प्रतिष्ठित थे और उसी स्रोत से सूरसागर का जगत् निर्मित हुआ है। अथवा यों मानलें कि सूर का सत्य भी तो किसी मानस में अपनी सत्ता रखता था जो उनका अनुभव था। उसकी खोज और पहचान भी तो वैज्ञानिक पद्धति का अंग है। वस्तुतः कवि के सत्य को उसी के नेत्र से देख सकना ही सच्ची वैज्ञानिक बुद्धि कही जा सकती है।

सूर के मानस का मानचित्र कुछ इस प्रकार खींचा जा सकता है: संसार में एक अमृत ब्रह्मात्मक सत्य है जो आनन्द से परिपूर्ण, रस से तृप्त और ज्योति से भरा हुआ है। उस अमृत सत्य की प्राप्ति मनुष्य का आवश्यक कर्तव्य है और उसके पाने का एक मार्ग है। उस सत्य के साथ एक अनृत पक्ष भी है। जो सत्य से विपरीत है वही अनृत है। जो ज्योति का प्रतिपक्षी है वही तम है। तम को हटाकर ही ज्योति प्रतिष्ठापित होती है। यह निर्गुण वाचना हुई। इसी तीन पैंड सत्य की सगुण वाचना भी है। सूर के शब्दों में वह इस प्रकार है: कृष्ण ही परब्रह्म के पूर्ण प्रतीक या रूप हैं। वे लीला से मानव, पर वस्तुतः परब्रह्म हैं। उनमें अक्षय आनन्द या रस परिपूर्ण हैं। कृष्ण आनन्द के छूटते हुए फव्वारे हैं। ब्रज के ईतरे बालक के रूप में वे संचरणशील ज्योति के स्फुलिंग हैं जो अंधेरे को हटाकर सर्वत्र प्रकाश भरते हैं। जहां कृष्ण प्रकट होते हैं वहीं वे शान्ति, तृप्ति और सौहार्द के वरदान से मनुष्य के मन को सींच देते हैं। कृष्ण को पा लेने पर और कुछ पाने की इच्छा शेष नहीं रहती। कृष्ण जीवन के रसात्मक आनन्दी निर्झर हैं। वे इन्द्रियों के संसार के भीतर से उठती हुई आनन्द-ज्योति हैं। वे चैतन्य की सरसता हैं जिससे समस्त जड़ जगत् पुलकित और प्रफुल्लित होता है। सूर-दर्शन का यह प्रथम पद है।

कृष्ण-रूपी इस अमृत सत्य को प्राप्त करने का मार्ग सूर-दर्शन का दूसरा सत्य है। यह मार्ग हृदय की श्रद्धा है, वही भक्ति है; इसी एक रस्सी से चैतन्य तत्त्व बांधा जा सकता है, अथवा यों कह सकते हैं कि चैतन्य को बन्धन में लाने के लिए प्रकृति ने श्रद्धा के अतिरिक्त और कोई रस्सी बनाई ही नहीं। बांधने के लिए मनुष्य के हाथ केवल एक यही रस्सी आई है। मन को चाहे देवता के साथ बांधो, चाहे मातृभूमि या राष्ट्र के साथ, श्रद्धा या प्रेम की दामरी के सिवा और कोई उपाय नहीं है। लोभ या बल के बंधन सब निकृष्ट हैं। कृष्ण को यशोदा बहुत-सी रस्सियों में बांधने लगी; पर सब व्यर्थ हुई। वे तो अन्त में एक ही रस्सी से बांधे जा सके। उस रस्सी का वैदिक नाम श्रद्धा और लौकिक नाम भक्ति है। निरुक्त के अनुसार 'श्रत्' सत्य का पर्याय है (सत्य नामसु पठितम्)। श्रत् या सत्य जिसमें रक्खा हो वह श्रद्धा है। बिना जीवन-सत्य के श्रद्धा की आग नहीं जलती। यही जीवन का ध्रुव अविचाली नियम है। जो जैसी श्रद्धा रखता है वह वही है—यो यच्छ्रद्धः स एव सः। श्रद्धा ही जीवन को निष्ठा प्रदान करती है और श्रद्धा ही उसमें प्रेरणा भरती है। चैतन्य तत्त्व को पकड़ने, अनुभव करने या आत्मसात् करने का एक-मात्र उपाय सुन्दर सात्त्विकी श्रद्धा है। यही सूर के मानव-चित्र की दूसरी रेखा है।

सूर के मन्दिर की तीसरी पैंडी ज्योति के विरोधी तम की स्वीकृति है। यही कृष्ण के विरोधी असुरों के विनाश की कथा अथवा आसुरी तत्त्व के पराभव की लीला है। देवासुर-संग्राम में देवों के साथ असुरों की भिड़न्त के वर्णन ऋग्वेद से आरम्भ होते हैं :

नैतदस्ति यद्देवासुरम् यदि दमन्वाख्याने त्वत् उद्यते इतिहासे त्वत्। ततो ह्येवैतान् प्रजापतिः पाप्मना अविध्यत् ते तत एवं पराभवन् इति। तस्मादेतद् ऋषिणाभ्यनूक्तम्।

इन्द्र और वृत्र के युद्ध को ज्योति और तम, आनन्द और विषाद, अमृत और मृत्यु के संघर्ष का रूपक बताकर बहुत रोचना के साथ वेदों में कहा गया है। ब्राह्मणकारों ने उस ढक्कन के परे देखते हुए स्पष्ट कहा है कि यह देवासुरी युद्ध कोई इतिहास

की घटना नहीं है।[१] यह तो प्रकाश और उसका आवरण करने वाले पाप की लड़ाई है। 'पाप्मा वै वृत्रः', पाप ही वृत्रासुर है—यह वैदिक परिभाषा है। इसी का नाना रूपों में विस्तार (उपबृंहण) पुराणों में पाया जाता है। सूर की कृष्ण-लीला भी उसी का एक नवीनतम संस्करण प्रस्तुत करती है। यही सूर के दार्शनिक त्रिकोण की तीसरी भुजा है। यह भी नहीं भुलाया जा सकता कि आसुरी शक्तियों से युद्ध और उनका पराभव सृष्टि-प्रक्रिया का अत्यन्त आवश्यक धर्म है। इन्द्र अथवा कृष्ण दोनों के जीवन में इसे प्रकट होना ही चाहिए। श्री कुमार-स्वामी के अनुसार असुर आदि के प्रतीक तत्त्वज्ञान की भाषा के लिए वैसे ही अत्यावश्यक बारहखड़ी हैं जैसे दर्शनशास्त्र के लिए शब्द।

कृष्ण के जीवन की लीलाएं तत्त्वज्ञान की बारहखड़ी या अछरौटी के रूप में ही सार्थक हो सकती हैं, अन्यथा वे बच्चों के मन-बहलाव के उदाहरण हैं। वन में लगी हुई भीषण अग्नि का पान कृष्ण के जीवन की उभरी हुई एक लीला है। दावानल-आचमन का सूर-सागर में अत्यन्त चमत्कारी वर्णन है।[२] 'दावानल अचयो ब्रजराज, ब्रज जन जरत बचायो', यह घटना भौतिक ब्रज तक सीमित नहीं है। यह दावानल तो जीवन की कराल अग्नि है, जो उसे भस्म करने के लिए कहीं भी प्रकट हो सकती है। अभी-अभी हमारे राष्ट्रीय जगत् में एक कठोर

---

[१] नत्वं युयुत्से कतमच्चनाहः नतऽमित्रो मघवन् कश्च नास्ति।
मायेत्सा यानि युद्धान्याहुः। नाद्य शत्रुं न पुरा युयुत्सः॥

अर्थात्—हे इन्द्र, तुम किसी दिन लड़े नहीं, तुम्हारे युद्धों की बात माया (रूपक लीला) है। (शतपथ ब्राह्मण ११।१।६।१७)

[२] चकित देखि यह कहि नर नारी।
घर आकास बराबरि ज्वाला, झपटत लपट करारी॥
नहि बरस्यो नहिं छिरक्यो काहू, कहूं धौं गयो बिलाइ।
अति आघात करत बन भीतर, कैसे गयो बुझाइ॥
तृण की आग बरत ही बुझ गइ, हँसि हँसि कहत गुपाल।
सुनहू सूर वह करनि कहनि यह, ऐसे प्रभु के ख्याल॥

दावानल फैल गया था। उसने मनुष्य-मात्र के हृदयों को झुलसा डाला था, उसके आतंक से सभी प्राणी व्याकुल थे। इस दावानल का आचमन राष्ट्रपिता तपस्वी महात्मा ने किया और राष्ट्र के भस्म होते हुए शरीर और मन को उबार लिया। उस घटना को मानवी कहें या अतिमानवी ? हम सब उस चमत्कार के साक्षी रहे हैं।

इस प्रकार के दावानल को स्वतेज या शक्ति से शान्त करने का अभिप्राय या अलंकार अर्जुन के जीवन में भी आता है। दावानल या विष की अग्नि स्थूल रूप में भले ही भिन्न दीख पड़े, पर अध्यात्म-भाषा की दृष्टि से दोनों एक ही सूक्ष्म तत्त्व के प्रतीक हैं। समुद्र-मंथन से उत्पन्न विष की दाहक ज्वालाओं से जिस समय सब देवता जल रहे थे, उस समय शिवसंज्ञक दैवी तत्त्व ने उस विष का पान कर लिया था—

जरत सकल सुर-वृन्द, विषम गरल जेहि पान किय।

शिवजी विष-पान न कर जाते तो समुद्र-मंथन से उत्पन्न अमृत देवों की बांट में कभी न आता। आता भी तो उसका शान्त उपयोग वे कभी न कर सकते। जो शान्ति के रस से सिक्त नहीं वह अमृत नहीं रह जाता। हमारे विगत राष्ट्रीय मंथन से उत्पन्न जो अमृत था उसके आस्वादन के लिए दावानल के आचमन या विषपान की अनिवार्य आवश्यकता थी। समाज या राष्ट्र के जीवन का जो सत्य है वही व्यक्ति के जीवन का सत्य भी है। एकोदय और सर्वोदय दोनों धर्म एक ही दैवी विशेषता से प्रेरणा पाते हैं।

यमलार्जुन को उखाड़ फेंकने की छोटी-सी लीला भी आध्यात्मिक भाषा के सांचे में ढली है। हम सभी यमलार्जुन से बंधे हैं। नाम-रूप के ये दो ठाड़े वृक्ष हमारे जीवन को रोके खड़े हैं। कृष्ण-लीला की परिभाषा में यमलार्जुन यक्षराज कुबेर के दो पुत्र थे जो निज स्वरूप खोकर शाप से वृक्ष बने थे। वैदिक परिभाषा में नाम-रूप दो महान् यक्ष हैं—

ते (नामरूपे) ह महती यक्षे महती अभ्वे।'

अर्थात्—नाम और रूप ये दो बड़े वृक्ष हैं, पर ऐसे यक्ष जिनकी सत्ता नहीं, जो अभ्व हैं, दिखाई पड़ने पर भी जो है नहीं। जीवन को बांधने वाले इन खूंटों को जड़-मूल से उखाड़ फेंकना ही पुराना अध्यात्म का मार्ग है।

श्रीकुमारस्वामी ने वैदिक परिभाषाओं की व्याख्या करते हुए मृत्यु को वरुण-पाश या मृत्यु का रूप कहा है और बताया है कि इस मृत्यु या मृत्यु पर विजय पाना अध्यात्मशास्त्र की आवश्यक सीढ़ी है। उनके अनुसार मुचलिन्द नाग के ऊपर बुद्ध की विजय और मुचुकुन्द के ऊपर कृष्ण की विजय एक ही तत्त्व को कहने की दो परिभाषाएं हैं।

वरुण या आवरणात्मक पाश डालने वाली शक्ति ही अहि वृत्र है। उस वरुण से छुटकारा पाना वैदिक अध्यात्मशास्त्र का अत्यन्त प्राचीन संकेत था। वरुण के पाश में जकड़ा हुआ रोहित उनसे छूटने का प्रयत्न करता है। यूरोप के उत्तराखंडी देशों के नार्डिक गाथा-शास्त्र में भी समन्दरी बुड्ढे (ओल्ड मैन ऑव दी सी) से छुटकारा पाने की कल्पना पाई जाती है। समुद्रवासी यह जरठ बुड्ढा जब पीठ पर सवार हो जाता है, कठिनाई से उससे छुटकारा मिलता है। वरुण ही समुद्रवासी बुड्ढे हैं। वे नन्द को पकड़ते हैं और कृष्ण उनसे नन्द का उद्धार करते हैं। कालियदमन कृष्ण-जीवन की अन्य प्रसिद्ध लीला है। वैदिक परिभाषा में आकाश-चारी प्रकाश-शक्तियों की संज्ञा गरुड़ और भूतल पर रेंगनेवाली अन्धकार-प्रधान वृत्तियों की संज्ञा सर्प है। जीवन-जल के सब सोतों पर नागों का अधिकार है। जीवन के जितने जल-कमल या शक्ति-चक्र हैं, सब कालिय नाग के अधिकार में हैं। शक्ति का प्रतीक यह कालिय नाग सबके भीतर बैठकर जीवनी शक्ति को अपने ही वश में रखना चाहता है और अपने ही ढंग से चलाना चाहता है; किन्तु उसके कालीदह में जीवन नहीं, वहां तो मृत्यु का निवास है। नागनथैया कृष्ण उन कमलों का उद्धार करते हैं जो जीवन के रूप हैं। नाग-नाथन या कालियदमन भारतीय अध्यात्मशास्त्र की परम्परा की प्रसन्न परिभाषा है, जिसके पीछे रक्खा हुआ अर्थ सरलता से समझा जा सकता है।

इन लीलाओं का अध्यात्म-अर्थ समझते हुए हम कृष्ण को खोते नहीं, वरन् उन्हें एक नये लोक में प्राप्त करते हैं जिस लोक में हमारे अध्यात्म-शास्त्र की प्राचीन धारा का सारस्वत जल भरा हुआ है।

कृष्ण-लीला इस रूप में अकेली नहीं है, रामलीला और बुद्ध-लीला भी उसी अध्यात्म-शैली पर निर्मित हैं। बुद्ध का मानवी रूप उनके

लीला-विग्रह में कहीं छिपा पड़ा है। श्रीमती राइस डेविड्स ने 'गौतम, दी मैन' पुस्तक में बुद्ध के मानवी रूप का आग्रह करके उसे उद्घाटित करने का प्रयत्न किया। किन्तु बुद्ध का लीला-विग्रह मानवी रूप का पदे-पदे निराकरण करके शताब्दियों में बड़े प्रयत्न और कौशल से अध्यात्म-अर्थों का ताना-बाना बुनकर बनाया गया था। बुद्ध के तीन रूप हैं—मानवी (ह्यूमन), अतिमानवी (सुपर-ह्यूमन) और अलौकिक (सुपर-मडेन)। मानवी रूप का आज तक पुरातत्त्व में कोई भी समसामयिक प्रमाण नहीं मिला। पिपरावा गांव (बस्ती—गोरखपुर की सीमा) के स्तूप से मिली हुई धातुगर्भ मंजूषा के लेख से ज्ञान होता है कि सुकीर्ति आदि शाक्यों ने बुद्ध के शरीर से सम्बन्धित कुछ चिह्न (सलिल निधने बुधस भगवतो) उसमें रक्खे थे। बस, बुद्ध के इतने ही मानवी प्रमाण से पुरातत्त्व धनी है। शेष परम्परागत अनुश्रुति और साहित्यिक प्रमाण हैं जिसमें बुद्ध की अति-मानवी लीला है। माता की दाहिनी कोख से जन्म लेना, जन्मते ही सात पैर चलना—बातें कब मानवी हुई हैं? इससे भी आगे एक युग ऐसा आया जब महायान सम्प्रदाय के आचार्यों ने बुद्ध के धर्मकाय की व्याख्या करते हुए यहां तक कहा—वे मूर्ख हैं जो समझते हैं कि बुद्ध का भी हाड़-मांस का शरीर कभी रहा होगा, वस्तुतः वे पृथ्वी पर कभी हुए ही नहीं, वे तो धर्म-शरीर से सत्य हैं जो अनादि अनन्त है। मानवी ढांचे पर बुद्ध का लीला-विग्रह तैयार करने की एक युक्ति भारतीय अध्यात्म-परिभाषाओं के अनु-सार जान-बूझकर बनाई गई। उस युक्ति को निखोलना और उसके अभीष्ट अर्थ को समझना उन्हीं परिभाषाओं के अनुसार सम्भव है।

यही प्रक्रिया और तथ्य कृष्णलीला के विषय में भी घटते हैं। कृष्ण के तीन विग्रह हैं जिन्हें मूर्तिशास्त्र की भाषा में द्विभुजी, चतुर्भुजी और सहस्र-भुजी कह सकते हैं। मानवी कृष्ण द्विभुजी हैं या उन्हें होना चाहिए। उनका इतिहास-पुरातत्त्वगत बहुत दूर का प्रमाण-बस एक वृष्णिगण का बचा हुआ सिक्का है जो काल के गाल से छूटकर हमतक आ पहुंचा है। वृष्णिगण-राज्य के अर्धभोक्ता राजन्य की कुछ झलक महाभारत के शान्ति-पर्व में है जब अपने-अपने दलों का गण-सभा में नेतृत्व करते हुए कृष्ण और अक्रूर की नोंक-झोंक भी हो जाती थी। कृष्ण के मानवी रूप के उद्धार का

प्रयत्न भी बंकिमचन्द्र में अपने 'कृष्ण-चरित' में किया, पर वैज्ञानिक इतिहास की आधारशिला तो उसे प्राप्त नहीं ही हो सकी।

दूसरा अवतारी कृष्ण का लीला-विग्रह है जो चतुर्भुजी है। भागवत की आधार-भित्ति वही है। वह भक्ति से जन्मा है। इससे भी ऊपर कृष्ण का ऐश्वर रूप है जो सहस्रभुजी है और जो गीता के ६, १०, ११वें अध्याय का विषय है। गीता के शब्दों में वह रूप अनन्त, अव्यय, शतसहस्र नानाविध, अद्भुत, उग्र, सदसत्, कालरूप, सुदुर्दश, विराट् और विश्वरूप है। उसे नरलोक में मनुष्य की आंखों ने पहले कभी नहीं देखा, ठीक उस बुद्ध-विग्रह की तरह जिसके लिए महायान सम्प्रदाय के लोकोत्तरवादी आचार्यों ने डपटकर कहा था कि बुद्ध मानव चर्म-नेत्र से कैसे देखे जा सकते थे। कृष्ण का ऐश्वर्यरूप भी चर्म-चक्षुओं का विषय नहीं। उसे देखने के लिए अर्जुन को दिव्य चक्षु दिये गए। मनुष्य तो क्या, देवता भी उसे देखना चाहते हैं, पर देख नहीं पाते। वह दिव्य शाश्वत पुरुष सहस्रभुजी रूप में केवल भक्ति से देखा जा सकता है। गीता की साक्षी के अनुसार ही जान पड़ता है कि नारद, असित, देवल, व्यास की परम्परा ने पंचरात्र दर्शन में कृष्ण के इस अनन्त विराट् विग्रह के निर्माण में भाग लिया। गीता में इस विराट् रूप से घबराकर अर्जुन उसी सौम्य रूप को देखना चाहता है। वह 'तदेव' (वही) रूप कौन-सा था, दो हाथों वाला मानवी नहीं, बल्कि गदा और चक्र लिये चतुर्भुजी रूप—

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥
(गीता ११।४६)

भागवत में मिट्टी खाते हुए कृष्ण ने और रामलीला में राम ने माताओं को क्षण भर के लिए विराट् रूप की झांकी दी थी। दुर्योधन को भी कृष्ण ने एक बार विराट् रूप की झलक दिखलाई थी; किन्तु यह विराट् या सहस्र-भुजी रूप हमारे लिए ऐसे ही काम (या बे काम) का है जैसे सृष्टि का निर्गुण निराकार तत्त्व। मधुर रस अपने परमाणु रूप से सृष्टि में ही है, पर वह किस काम का ? मनुष्य को तो अणु-परमाणु से आगे बढ़कर मिस्री की डली

चाहिए। इस मीठी डली के निर्माण का नाम ही लीला-वपु है। प्रकृति का सूक्ष्म अन्तरंगी ठाठ तो शायद कोरंकोर गणित के नियमों में समाप्त हो जाता है, पर वह अलभ्य है। उससे निर्मित स्थूल रूप मानव के काम का है। गणित का मधु-तत्त्व गन्ने और गुड़ रूप में आना ही चाहिए। यही बात सगुण के विषय में है। राम-कृष्ण जो भी उसका रूप बनाना चाहो बनाओ, सगुण के लिए लीला-वपु आवश्यक है और उसका प्रयोजन भी पदे-पदे निर्गुण-तत्त्व की महिमा की ख्याति ही है। निर्गुण की महिमा के वरदान से ही सगुण पर अतिमानवी आवरण चढ़ता जाता है। उदाहरण के लिए शकटलीला को लें। बच्चे के जीवन में सामान्य रूप से छोटी गाड़ी का सभी को परिचय है। उसे ही शकटासुर मानकर बाल-रूप द्वारा उसका वध लीला-वपु का निर्माण करता है। लीलावपु की कल्पना में अध्यात्म-परिभाषाओं की सहायता लेनी पड़ती है।

वैदिक साहित्य में मानवी शरीर की कई संज्ञाएं हैं जैसे पूर्ण घट, दैवी नाव, देवरथ या शकट। प्राण-रूपी बैल इस शरीर के छकड़े को चला रहा है। इसीलिए प्राण को अनड्वान् (अनट् या छकड़ेवाला) कहा गया है—**अनड्वान् प्राण उच्यते (अथर्व०)** ।

इस शरीर-रूपी शकट या शकटासुर को बाल-कृष्ण ने बिलट दिया। इसके गान, कीर्तन, कल्पना से एक मधुर लीला बनी। छोटी गाड़ी के उलटने-पुलटने में कोई वैचित्र्य या माधुर्य नहीं है, पर शकटासुर के बाल-कृष्ण द्वारा ध्वस्त होने में लीला का माधुर्य है। लीला आनन्दघन है। मनुष्य के मन को आनन्द-घन वस्तु की आवश्यकता है। इसी तत्त्व पर लीला-वपु का निर्माण होता है। आनन्द-घन लीला चाहे वह कृष्ण की हो चाहे बुद्ध की, माधुर्यमय या मिस्री की डली का रूप है। हमारा अपना जीवन, जो उसी लीला के ठाठ पर बना है, उस मिस्री को चखनेवाली जिह्वा है। मानव को यह विश्वास या श्रद्धा रखनी ही पड़ती है कि लीला-वपु माधुर्य और आनन्द-घन है। जितना मिठास उससे हम अपने जीवन की पुत्र-कलत्रमयी लीला में ले सकें, वही हमारे काम का है। इस प्रकार जीवन की आवश्यकता के भीतर से भक्तों ने प्राचीन अध्यात्म-परिभाषाओं का सहारा लेकर लीला का विकास किया।

लीला का स्थूल रूप ही कवि के लिए अत्यावश्यक है। इसीलिए उद्धव की भांति कृष्ण को ध्यान अथवा योगगम्य बनाना सूर अथवा व्रजवासियों को रुचिकर नहीं। सूर का बड़ा साका इस बात में नहीं है कि उन्होंने पुरानी परिभाषाओं की बारीक शल्य-क्रिया करके उनके भीतर छिपे हुए अध्यात्म को सिद्ध करने का प्रयत्न किया। सूर की सफलता इस बात में है कि उन्होंने देश-सम्मत परिभाषाओं के स्थूल रूप की मातृका या सांचे को जैसा पाया वैसा ही स्वीकार करके चतुर शिल्पी या चितेरे की भांति अनेक सुन्दर रूप या आलेखन प्रस्तुत किये। सूर के चित्र अत्यन्त सजीव हैं, उनकी वर्णना-शक्ति की थाह प्रयत्न करने पर भी नहीं मिलती। एक ही कृष्ण के चित्र को रंगों और तूलिका की शक्ति से कितने अपरिमित भावों में वे सजा सके हैं, इससे उनके कवि-रूप की महिमा प्रकट होती है। सूर-सागर का भ्रमर-गीत तो कविता की पराकाष्ठा है। वह शुद्ध आनन्द का अक्षय सोता है। सहृदय के लिए उसमें रस-प्राप्ति की अतुल सामग्री है। हमारी दृष्टि में भ्रमर-गीत की तुलना में रखने के लिए विश्व-साहित्य में हमारे पास बहुत कम कृतियां हैं। मन और बुद्धि के शाश्वत द्वन्द्व या तारतम्य का इससे अधिक काव्यपूर्ण, पल्लवित, सरल और श्रद्धा से किया हुआ वर्णन अन्यत्र मिलना कठिन है। किन्तु भ्रमरगीत तर्क की कैंची से तत्त्व की कतर-ब्योंत नहीं है। मानवीय आत्मा में चैतन्य की साक्षात् प्राप्ति के लिए जो जन्म-जन्म की आकुलता है वह भ्रमरगीत का सार, उसका प्राण और रस है। स्त्री के मन में पुरुष के लिए जो सर्वात्म-समर्पण का भाव प्रकृति ने स्वयं भरा है, उसमें जो अचिन्त्य और अपरिमेय प्रेम-तत्त्व है—इसमें संदेह है कि विश्व में पूरी तरह उसकी थाह कभी लग सकेगी—और शरीर के स्थूल रक्त-मांस से लेकर मानस के सूक्ष्म तन्तुओं तक में प्रेम का स्वयं अनुभव करने की जो उत्सुकता या छटपटाहट है, चैतन्य के लिए आत्मा की जाग्रत आकुलता की उपमा यदि किसी से दी जा सकती है तो स्त्री-पुरुष के उस प्रेम से ही। इसी सुन्दर स्वस्थ प्राणमय तत्त्व से भ्रमरगीत का निर्माण हुआ है। सूर ने भ्रमर-गीत के भीतर इस मणि को कहीं रख दिया है जिसका प्रकाश धुंधला नहीं पड़ता। भ्रमरगीत में ऐसा सोता उनके हाथ लग गया है जिसमें से कभी न छीजने वाली आनंद की रसझड़ी सदा निकलती

जान पड़ती है। भ्रमरगीत के वर्णन साहित्यिक ठाठ से संवारे हुए हैं, फिर भी उसमें दायें-बायें नये-नये हेर-फेर की अद्‌भुत शक्ति सर्वत्र मिलती है। उसकी भाषा की टकसाली गठन ब्रजभाषा के प्रति नूतन श्रद्धा उत्पन्न करती है। उसके अर्थों की पैनी शक्ति दूर तक बेधती है।

बिलग मति मानो ऊधो प्यारे !
वह मधुरा काजर की उबरी, जे आवैं ते कारे।
तुम कारे सुफलक सुत कारे, कारे मधुप भंवारे।
तिनहूं मांझ अधिक छबि उपजत, कमल नैन मनियारे।
मानो नील मांट में बोरे, लै जमना जु पखारे।
ता गुन स्याम भई कालिंदी, सूर स्याम गुन न्यारे॥

अथवा

ऊधो तुम बेगि ही ब्रज जाहु।
सुरति संदेस सुनाई मेटों, वल्लभनि को दाहु।
काम पावक तुलित मन में, बिरह स्वास समीर।
भस्म नाहिन होन पावत, लोचननि के नीर॥

इस पद को लिखते समय मानों सूर-तुलसी ने एक-दूसरे के साथ टीपने मिलाये हों। तुलसी की प्रसिद्ध उक्ति है—

बिरह अगिनि तन तूल समीरा।
स्वास ज़रे छन मांह सरीरा।
नयन स्रवहिं जल निज हित लागी।
जरै न पाव देह बिरहागी॥

सूर के विनोदी मधुबनियां श्याम ने उद्‌धव के अद्वैतदर्शी रंग के साथ विनोद का एक अतिशिष्ट रूप भ्रमरगीत में रचा है। उसमें गोपियों की अपरिमित कसक और करुणा का व्यंग भरा है। उसके भीतर से सूरदास के भक्त हृदय की अमर वाणी आज भी सुनाई पड़ती है—

कहो संदेस सूर के प्रभु के, यह निर्गुन अंधियारो।
अपनो बोयो आप लोनियो, तुम आपहि निरुबारो॥

अर्थात्—हे ऊधो, सूर के सगुण प्रभु की बात कहो तो भला ! निर्गुण तो अंधियाला है; निर्गुण की अपनी खेती बोई है, तो आप ही काटो; निर्गुण की गांठ लगाई है, तो आप ही सुलझाओ ।

सूर की यह मांग व्यक्ति के हृदय की मांग तो है ही, हो सकता है कि निर्गुण की गांठ न सुलझने पर कभी युग की मांग भी बन जाय । सगुण और निर्गुण की उलझन का लोक-पक्ष भी है । राष्ट्र (स्टेट) निर्गुण, व्यक्ति या जन सगुण और प्रत्यक्ष-सिद्ध है । उसी के कल्याण में रस है । कोरा सिद्धान्त या वाद निर्गुण या अमूर्त है, किन्तु जन का जीवन मूर्त और प्रेम का पात्र है । हमारे समस्त सिद्धान्तों या मतवादों को सगुण जन-जीवन की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए । जीवन से पराङ्मुख मतवाद उद्धव के रूप हैं । जीवन स्वयं गोपियों की भांति रस-तृप्ति का इच्छुक है ।

सच्ची ब्रज-संस्कृति मध्ययुग के बहके हुए व्यक्तियों का कर्म से बच निकलने का मार्ग नहीं है । यह तो भारतवर्ष के कई सहस्र वर्षों के धार्मिक इतिहास के प्रचण्ड मंथन से उत्पन्न हुआ मक्खन था, अथवा समुद्र में तैरता हुआ सुन्दर कमच था जिसने देश को समन्वय, सप्रीति और समवाय का सुन्दर संदेश दिया । यह वह महायान या चौड़ा मार्ग था, जिस पर संकीर्णता को दूर करके सबको चलने का निमंत्रण दिया गया ।

उस महायान की पताका पर यह मंत्र लिखा था—

हरि को भजै सो हरि का होई

इन्हीं दीप्तिपटों से तो समाज के मन में नया प्रकाश भरा जाता रहा, जिसके भरने वाले अनेक ध्यानी, ज्ञानी, अभ्यासी, आचारपूत, तपस्वी, सन्त-महात्मा और भक्त थे । वे ही ब्रज-संस्कृति के संस्थापक थे। इसी संस्कृति के मार्ग से लोक के छटपटाते हुए मन को नया प्राणवायु पहुंचता रहा । मतवाद की चारदीवारी के लौह-प्राचीरों ने जब जीवन को रूंध दिया, तब ब्रज की प्रेम-भक्ति-प्रधान संस्कृति ने सब प्राणियों के लिए जीवन को रहने के योग्य बनाया और मानव को मानव के प्रति श्रद्धा का पाठ पढ़ाया । समाज में जो सहस्रों वर्षों से पंगु बने थे वे इस संस्कृति की कृपा से पर्वत लांघने लगे; जो अन्धे बने थे वे सबकुछ देखने लगे; जो बहरे

थे उनके कान कर्तव्य, सम्मान, मर्यादा के संदेश सुनाने के लिए खुल गये; और जो गूंगे थे उनके कंठों में स्वर आ गया। ऐसे बन्धन-मुक्त कंठों के गान आज भी भारत की सांस्कृतिक निधि में रत्नों की भांति सुपूजित है— इस संस्कृति के द्वारा की गई ईश्वर के चरणों को वन्दना ऐसी सुखदाई और सिद्धि को देने वाली हुई—

बंदौं श्री हरि पद सुखदाई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधरे को सबकुछ दरसाई।
बहिरो सुनै गूंग पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई॥

मनुष्य ने जहां आपस में विभेद डाला था, वहीं ईश्वर के चरणों की करुणा उन्हें मिलाने वाली सुधा सिद्ध हुई।

: १९ :

आश्रम-विषयक योगक्षेम

ऋषि-संघ के साथ विचरते हुए महर्षि अंगिरा एक बार महर्षि भृगु के आश्रम में पधारे। यथोचित कुशल-प्रश्न और मधुपर्कादि सत्कार-कर्मों के अनन्तर सुखपूर्वक प्राङ्मुखासीन भगवान् अंगिरा ने अन्तेवासी ऋषि-कुमारों के मध्य में विराजमान परावरज्ञ भृगु महर्षि को सम्बोधन करते हुए उनकी सर्वतोमुखी कुशल जानने के लिए इस प्रकार कहना आरम्भ किया—

"हे वेदज्ञों में अग्रणी विप्रवर! प्रचेता आदि मुनियों के साथ पुराकाल में आपने मेरु-शिखर पर कठोर तप किया था। आज आपके पुण्य-दर्शन से हमारे अन्तःकरण को परम आनन्द हुआ है। आपके अवदात तप की महिमा त्रिलोकी में किसे अविदित है? वाक्-काय-मन से सर्वदा सम्भृत आपके त्रिविध तप में कोई अन्तराय तो नहीं होता? काल-चक्र के संपर्क से उसकी अक्षय्यता में बाधा तो नहीं पड़ती? आपकी समाधि में सनातन ब्रह्म का प्रत्यक्ष तो निरंतर होता रहता है? तम से अतीत, परोरजा, आदित्य-पुरुष की उपासना तो आपके यहां नियमपूर्वक होती है? श्रुति महती सरस्वती के

प्रत्यक्ष करने में तो आपका मन एकाग्र होता है ? जिस ऋतम्भरा प्रज्ञा से आप त्रिलोकी का साक्षात्कार करते हैं, उसकी दिव्य ज्योति पर कभी तमिस्रा का आक्रमण तो नहीं होता ? अपरिमित श्रम से आराधित आपके त्रयी-ज्ञान से-आश्रम के अन्तेवासी तो नित्य लाभान्वित होते रहते हैं ? श्रुतियों के अनन्त पारावार में दिव्य नौका के समान तैरते हुए आपके दृढ़ मन का आश्रय पाकर ब्रह्मचारी तो नियम से कल्याण का साधन करते हैं ? आश्रम में श्रुतियों का घोष तो निरन्तर सुना जाता है ?

सरस्वती के तीर पर विचरने वाली आपकी कामदुघा गौएं तो सब प्रकार कुशल से हैं ? ब्रह्मचारी श्रद्धा के साथ गौओं की शुश्रूषा करते हैं या नहीं ? **'सदा गावः शुचयो विश्वधायसः'** आदि मन्त्रों पर वे विचार करते हैं या नहीं ? महर्षि जमदग्नि के प्रख्यात त्रिष्टुपों[1] के अर्थों का ब्रह्मचारियों को स्फुरण होता है या नहीं? सप्तसाम और सप्त-छन्दोंमें वाक् का समुदीरण करने वाली गौ को वे जानते हैं या नहीं ? रुद्रों की माता, वसुओं की दुहिता और आदित्यों की स्वसा गौ की वे प्रसन्न मन से आराधना करते हैं या नहीं ? क्या अमृत की नाभि अदिति नामक गौ के स्वरूप से वे परिचित हैं ? इस विराट् गोदोहन के मर्म से क्या वे अभिज्ञ हैं ? वाक्-प्राण-मन और धेनु-ऋषभ-वत्स के रहस्यों पर क्या कभी वे मिलकर विचार करते हैं ? महर्षियों से व्याख्यात संहिताओं के मर्म को वे जानने का प्रयत्न करते हैं या नहीं ? आपके यहां स्वस्तिमयी अमृतदोहा धेनुएं वत्सों को प्रेमपूर्वक चाटती हैं या नहीं ? क्या आपके अन्तेवासी **'वाग्वै माता[2] प्राणः पुत्रः'** की अध्यात्म-परिभाषाओं को यथावत् जानते हैं ?

---

[1]**माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः। प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट ।। वचोविदं वाच मुदीरयन्तीं विश्वाभिर्धीभिरुपतिष्ठमानाम् । देवीं देवेभ्यः पर्येयुषीं गामा ना वृक्त मर्त्यो दभ्रचेताः ।।**

[2]**एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे। तं पाकेन मनसाऽपश्य मन्ति तस्तं मातारेहिल्स उ रेहिल् मातरम् ।।**

ऐतरेय आरण्यक ३।१।६; तथा ऋग्वेद १०।११४।४

सरस्वती के जल में खड़े होकर आपके ब्रह्मचारी पवित्र अघमर्षण[1] सूक्तों का जप करते हैं या नहीं ? ऊंचे स्वर से मिल कर वे शुद्धवती[2] ऋचाओं को गाते हैं या नहीं ? क्या अस्यवामीय[3] और नासदीय[4] सूक्तों का गान करने वाले ब्रह्मचारियों का संघ आपके यहां है ? तरत्समन्दीय[5] और हविष्पान्तीय[6] ऋचाओं के पारायण में कभी उनकी स्पर्द्धा होती है या नहीं ? शिव-संकल्प सूक्तों[7] के विमर्श से वे मन के तेजको प्राप्त करते हैं या नहीं ? '**कुवित्सो मस्या पामिति**'[8] के समान उनके चित्त में नित्य उत्साह का स्फुरण होता है या नहीं ? आलोकित मन से वे नित्य सूर्योपस्थान करते हैं या नहीं ? आपके यहां सेतूंस्तर[9] साम का गान करने वाले ब्रह्मचारी कितने हैं ? क्या वे दान से अदान, अक्रोध से क्रोध, सत्य से अनृत और श्रद्धा से अश्रद्धा[10] को जीतने की इच्छा रखते हैं ? क्या वे चार दुस्तर सेतुओं को पार कर के अमृत और ज्योति तक पहुंचने की अभिलाषा करते हैं ?[11] उसमें से कितनों के मन में आदित्य वर्ण-पुरुष का

---

[1]ऋतं च सत्यं आदि—ऋ० १०।१९।१—३। [2]शुद्धवती ऋचाएं—ऋ० ८।९५।७, ८, ९। एतोन्विन्द्रं स्तवाम शुद्धं शुद्धेन साम्ना। शुद्धै रुक्थैर्वा वृधांसं शुद्ध आशीर्वान्ममत्तु।।७।। इन्द्र शुद्धो न आ गहि शुद्धः शुद्धाभिरूतिभिः। शुद्धो रयिं निधारय शुद्धो ममद्धि सौम्यः।।८।। इन्द्रशुद्धो हि नो रयिं शुद्धो रत्नानि दाशुषे। शुद्धो वृत्राणि जिघ्नसे शुद्धो वाजं सिषाससि।।९।

[3]अस्यवामीय सूक्त—ऋ० १।१६४।१—५२। [4]नासदीय सूक्त—ऋ० १०।१२९। १—७। [5]तरत्समन्दी धावति आदि—ऋ० ९।५८१—४। [6]हविष्पान्तीय सूक्त—ऋ० १०।८८।१—१९।

[7]शिवसंकल्प सूक्त जिसके ऋषि का नाम भी शिवसंकल्प है—यजु० ३४।१—६। [8]इतिवा इति मे मन आदि आत्मस्तुति-परक सूक्त—ऋ० १०।११९।१—१३। [9]सामवेद पूर्वार्चिक प्रपाठक ६, दशति १०, मंत्र ९।—[10]अहमस्मि प्रथम जा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम। यो मा ददाति स इदेव मावदह् मन्न मन्न मदन्त मयि। [10]दानेनादानम्। अक्रोधेन क्रोधं। सत्येनानृतम्। श्रद्धयाश्रद्धाम्।

[11]एषागतिः। एतदमृतम्। स्वर्गच्छ। ज्योतिर्गच्छ सेतूंस्तीर्त्वा चतुरः।

साक्षात्कार करने की इच्छा जागरूक हुई है? क्या वे जानते हैं—किस प्रकार महर्षि लोग उस प्रत्न-रेत की देदीप्यमान ज्योति को, जो द्युलोक से परे है, देख लेते हैं?[1] 'पावमानी'[2] ऋचाओं में ऋषियों ने जिस रस का संचय किया है, उसका अध्ययन करने वाले ब्रह्मचारी आपके यहां किस फल की आशा करते हैं?

क्या आपके अन्तेवासी ऋषि-संघों में अध्यात्म-प्रवादों का श्रवण करते हैं? ब्रह्मोद्य चर्चाओं में तो उसका मन लगता है? **'सं श्रुतेन गमे महि, मा श्रुतेन विराधिषि'** के सिद्धान्त को पथ-प्रदीप बना कर वे सम्यक् आचार का ग्रहण करते हैं या नहीं? श्रुति की दुर्धर्षता के सामने उनका मूर्धावपतन तो नहीं होने लगता? भरद्वाज के सदृश तीन जन्म-पर्यन्त वेदाध्ययन करते रहने की निष्ठा से कितने ब्रह्मचारी व्रतवान बने हैं? क्या **'अनन्ता वै वेदाः'** का मर्म जानने के लिए वे कभी श्रोत्रियों के चरणों में समित्पाणि होकर प्रश्न करते हैं? क्या कभी **'को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्'** की व्यञ्जना पर भी उन्होंने विचार किया है? **'कस्मै देवाय हविषा विधेम'** के अनिरुक्त भावों को आत्मसात् करने की चेष्टा वे करते हैं या नहीं? **'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'** तथा **'एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः'** के 'बहुधा' पद पर वे यथार्थ विचार करते हैं या नहीं? प्रजापति के उभयविध रूपों की मीमांसा आपके आश्रम में किस प्रकार होती है? अनिरुक्त और अपरिमित का निरुक्त और परिमित से यथावत् विवेक वे कर सकते हैं या नहीं? देव-असुरों की आख्यान-संयुक्त ऋचाओं को देखकर उन्हें कभी भ्रम तो नहीं हो जाता? आर्ष शैली को संपरिज्ञात करने में वे खेद का अनुभव तो नहीं करते? **'परोक्ष-प्रिया वै देवाः प्रत्यक्षद्विषः'** इस मार्मिक सत्य को जान कर वे तत्त्व का अन्वेषण करते हैं या नहीं?

आपके आश्रम में कितने ब्रह्मचारी ऐसे हैं जिन्होंने प्राण की महिमा

---

[1] **आदित्प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिष्पश्यन्ति वासरम्। परो यदिध्यते दिवा ॥ऋ० ८।६।३॥**

[2] **पाव मानार्यो अध्येत्यृषिभिः सम्भृतं रसम्। तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्॥ ऋ० ९।६७।३२॥**

जानने के लिए एक सप्ताह का व्रत किया है ? प्राण-विद्या के सूक्ष्म रहस्यों को जानने के लिए कितनों ने दो सप्ताह के व्रत का अनुष्ठान किया है ? प्राण और अन्न के सूक्ष्म, सम्बन्ध पर वे ध्यान देते हैं या नहीं ? पुरुष-शरीर में जो रेत-रूप आज्य है, उसकी निर्मलता का सम्पादन करने के लिए आपके शिष्य प्राणायाम और योग-विधि की उपासना तो नियम से करते हैं ? रेत ही प्राण की प्रतिष्ठा है, इसको वे जानते हैं या नहीं ? इस शरीर में अष्टचक्र और नव-इन्द्रिय-द्वार हैं, इनकी शुद्धि और संयम पर तो विशेष ध्यान देते हैं ? दैवी वीणा, दैवी नाव, दैवी सभा, दैवी संसद्, देव-रथ, क्षेत्र आदि इसी मनुष्य-शरीर की जो संज्ञाएं ऋषियों ने बताई हैं, उनपर उसी प्रकार आपके ब्रह्मचारी विचार करते हैं या नहीं ? इनके सांगोपांग रूपकों को समझने में उन्हें मोह तो नहीं होता ? शरीर की अध्यात्म-परिभाषाओं का विधिपूर्वक वे मनन करते हैं या नहीं ? '**पुरुषविधो वै यज्ञः**' यह ऋषि-सम्मत सिद्धांत है, इसका ज्ञान ब्रह्मचारियों को है या नहीं ? क्या वे जानते हैं कि मस्तक ही वह पुरोडाश है, जिसके परिपक्व और संस्कृत करने के लिए मनुष्य-जीवन का जरामर्य सत्र वितत है ? मेरुदण्ड और यज्ञीय यूप की समानता का उन्हें ज्ञान है या नहीं ? शिर और द्रोणकलश के रूपक को वे सब समझते हैं ? मस्तिष्क की देवकोश संज्ञा से वे परिचित हैं या नहीं ? कौन से देवों के निवास के कारण इसको ऋषियों ने देवकोश कहा है, इसको भी क्या आपके शिष्य जानते हैं ? इस शरीर-रूपी देवपुरी में शिर ही ज्योति से आवृत स्वर्गलोक है, जहां अमृतत्व रहता है—इस महत्त्वपूर्ण अर्थ पर आपके आश्रम में कभी विचार हुआ है या नहीं ? स्वर्ग में अमृत का घट है और इस मस्तिष्क में अमृत-ज्योति या देवों का निवास है, इन कल्पनाओं के मर्म को ऐसा तो नहीं कि आपके ब्रह्मचारी न जानते हों ? ऊर्ध्वबुध्न अर्थात् ऊपर को जिसकी पेंदी है, और अर्वाग्बिल, अर्थात्, जो औंधा ढका हुआ है, ऐसे शिर-रूपी चमस को प्रजापति त्वष्टा ने किस प्रकार बनाया और क्यों ऋभु देवताओं ने उस एक चमस को चतुर्धा-विभक्त किया—यह रहस्य आपके शिष्यों को अविदित तो नहीं है ? मस्तिष्क-रूपी चमस की चार वापियों में जो रेत-रूप सोम भरा हुआ है, उसके स्रोत, संचय और पवित्रीकरण की क्रियाओं को पवमान सोम के सूक्तों के अध्ययन के साथ ही आपके शिष्य जान लेते हैं या नहीं ?

कहीं ऐसा तो नहीं कि वेद के मन्त्रों का स्वाध्याय करते हुए उनके अध्यात्म-तत्त्वों पर विचार न करते हों ? सप्त शीर्षराय प्राण ही शरीर में प्रतिहित सप्तर्षि हैं; प्राणापान ही इन्द्र के दो अश्व या अश्विनी हैं जिनसे यह देवरथ गतिशील होता है; प्राण ही अमृत और शरीर मर्त्य है—इनको जानकर वे मन्त्रों के रहस्य को अधिगत करते हैं या नहीं? मज्जा, अस्थि, स्नायु, मांस, मेद, असृक् इन छः मर्त्य चितियों का उनको ज्ञान है या नहीं ? क्या वे जानते हैं कि शरीर में ये छः पुरीषचिति अर्थात् कच्ची चितियां हैं ? इनके साथ मिलने वाली छः अमृतत्व चितियां इष्टका-चितियों को वे जानते हैं या नहीं? प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, वाक्—इन छः प्रकार के अमृतों का उनको बोध है या नहीं, जो मर्त्य चितियों के साथ मिल कर इस शरीर को प्राण-युक्त एवं अमृतमय बनाते हैं ? यजमान इनसे अजर-अमर बन सकता है—इसको बिना जाने आपके शिष्य यज्ञ-क्रियाओं में तो सम्मिलित नहीं हो जाते? प्राण और अपान ही प्रयाज और अनुयाज नाम के यज्ञांग हैं, प्राणकी उपनिषद्विद्या का अध्ययन करते हुए इसको वे जान लेते हैं या नहीं ? गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय-रूप अग्नित्रेता के जिन आध्यात्मिक अर्थों का ऋषियों ने व्याख्यान किया है, उनका आपके यहां भी व्याख्यान होता है या नहीं ? शिर ही आहवनीय है, इसी को चितेनिधेत या अमृत-अग्नि भी कहते हैं तथा शरीर का अर्वाचीन भाग मर्त्य एवं चित्यग्नि कहा गया है—इस प्रकार के ज्ञान से आपके यहां प्राणाग्नियों की उपासना होती है या नहीं। इस शरीर में भरा हुआ जो रस है, उस रस-रूप सोम के अधिश्रयण या पाक से उत्तरोत्तर शुद्ध और कल्याण वर्ण रेत-रूप सोम का अभिषव होता रहता है, वह सोम औषधि वनस्पति-रूप नाड़ियों की शाखा-प्रशाखाओं को किस प्रकार स्वस्थ और विदग्ध बनाता है, फिर किस प्रकार मस्तिष्क-रूप स्वर्ग में संचित होकर वहां के ज्ञान-कोषों को वह पुष्ट और ऊर्जित बनाता है, इस मर्म को समझने में आपके अन्तेवासी पर्याप्त कुशलता का परिचय देते हुए किसी से पीछे तो नहीं रहते ? सोम का पान ही ब्रह्मचर्य की साधना है, यही सोम-याग अमृतत्व का हेतु है, इस प्रकार के ज्ञान से ब्रह्मचारी अध्यात्म सोम-याग करते हुए **'सोममर्हति यः'** की परिभाषा के अनुसार सोम्य संज्ञा को चरितार्थ तो करते हैं ? उचित उपवास के द्वारा

बलवान् बनी हुई जो प्राणाग्नि शरीरस्थ सोम को निर्मल बनाती है एवं सुवर्ण के समान उसके मलों को दग्ध कर देती है, उस प्राणाग्नि की उपासना के निमित्त आप ब्रह्मचारियों के लिए व्रतों का विधान करते रहते हैं या नहीं ? प्राणरूपी तनूपा अग्नि ही शरीर की ऊनता एवं दुरितों का क्षय कर के उसे अरिष्ट बनाती है, वही आयु और वर्चस का संवर्धन करती है, इस प्रकार श्रद्धा के साथ आपके आश्रम में ब्राह्म मुहूर्त के समय सब ब्रह्मचारी मिलकर तनूपा-मन्त्रों का गान करते हैं या नहीं ?

'सोम' और 'वाज' शब्दों के अर्थों का तो आपके यहां पुनः-पुनः विचार होता रहता है ? प्राण और अमृत की पर्यायार्थता तो सबको विदित है ? सोम-पान और वाजपेय की कल्पना तो ब्रह्मचारियों के मन में दृढ़ है? वाज का पान करके भरद्वाज बनने वाले शिष्यों को तो आप उचित रीति से सम्मानित करते रहते हैं ? वाज का क्षय कर के च्यवन-प्रवृत्ति से ग्रसित तो आपके यहां कोई नहीं है ? यदि प्रमाद-वशात् कहीं पर क्षयिष्णु च्यवन धर्म का उदय हो भी जाता है, तो ऐसा तो नहीं है कि उसका प्रतीकार न किया जाता हो ? जीर्ण च्यवन को पुनः वाज-सम्पन्न करने वाली दैवी भिषक् प्राणापान हैं, इन अश्विनी कुमारों की चिकित्सा ही योग-विधि है, इस प्रकार सनातनी योग-विद्या के मर्म को तो सब अन्तेवासी जानते हैं ? हे ऋषिवर, प्राण-विद्या अत्यन्त गूढ़ है, प्रणों से ही सृष्टि का विकास होता है, ऋषि-संज्ञक प्राण ही असत् रूप में सृष्टि के पूर्व में वर्तमान रहते हैं। उनमें मुख्य प्राण का नाम ही इन्द्र है। क्योंकि इन्द्रियों के मध्य में यही प्रज्वलित होता है, प्राण ही एकर्षि है, प्राण ही महावीर, एकवीर, दशवीर आदि असंख्य नामों से विख्यात है, प्राण ही शरीर नामक मृत्पिंड को अर्चनीय बनाता है। प्राण-रूपी अर्क की रश्मियों से सर्वत्र प्रकाश का अनुभव होता है,ऐसे वरिष्ठ, श्रेष्ठ, ओजिष्ठ, मंहिष्ठ देव की उत्पत्ति, आयति, स्थान, पंचधा विभुत्व और अध्यात्म का जानना महा कठिन है। उसके बिना जाने अमृतत्व की प्राप्ति उसी प्रकार असम्भव है, जिस प्रकार चमड़े के समान आकाश को लपेटकर उसका वेष्टन बना लेना। हे महर्षे ! इस प्रकार की सर्व विद्या-प्रतिष्ठा प्राण-विद्या को जानने के लिए इस चरण के ब्रह्मचारी अहर्निश प्रयत्न करते हैं या नहीं ? प्राण ही सब अंगों का रस होनेसे **अंगिरस** कहा

जाता है, उसके अभाव में जीवन शुष्क पर्ण के समान नीरस हो जाता है। इस परोक्ष निरुक्त पर ध्यान देकर जीवन के सभी अंगों में प्राण से विरहित तो कोई क्रिया आप नहीं करते ? **'प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे'** आदि प्राण-सूक्त का पारायण तो आपकी परिषदों में होता है ? इसी प्रकार ब्रह्मचर्य-सूक्त, स्कम्भ-सूक्त और केनपार्ष्णी सूक्तों को भी जब आपके शिष्य गाते हैं, तब सब उन्हें ध्यानपूर्वक सुनते हैं या नहीं ? हे सोम्य, तुम सौपर्णोपाख्यान का वर्णन करो, तथा हे वाजश्रवा, तुम शौनःशेप उपाख्यान में ऋषि-पुत्र शुनःशेप का यश-गान करो, इस प्रकार का आदेश भी आप अपने ब्रह्मचारियों को बहुधा देते रहते हैं या नहीं ? **'इष्णन् इषाण, अमुं म इषाण, सर्व लोकं म इषाण'** इस प्रकार की विराट् प्रार्थना को प्रातःकाल जब ब्रह्मचारी संघ में कहते हैं, तब उसका कैसा प्रभाव रहता है ? **'एवा मे प्राण मा बिभेः'** के नाद से आश्रम का वायुमण्डल नित्य गुंजायमान होता है या नहीं ?

आपके ब्रह्मचारी प्रासादों के मोह में पड़कर कुटियों को तो नहीं भूल जाते ? अरण्य-जीवन से तो उन्हें प्रेम है ? गिरियों के उपह्वर और नदियों के संगमों पर दिव्य बुद्धि की उपासना तो वे करते हैं ? गिरि-कन्दराएं और नदी-संगम दोनों आदि-अन्त के सूचक हैं, इनपर जो ध्यान करते हैं वे ही विप्र-पदवी को पाते हैं—इस प्रकार के अध्यात्म-अर्थों पर कितने ब्रह्मचारी अपनी सूक्ष्म दृष्टि ले जाते हैं ? हे वरेण्य मुनिवर, कुटी से प्रेम करना अमर जीवन का लक्षण है, इसका दृढ़ संस्कार आपके अन्तेवासियों के मन पर होना चाहिए। आकाश, तेज और वायु का स्वच्छन्द प्रचार जहां होता है, वहां वरुण-पाश नहीं फैलने पाते। आपके शिष्यों के निवास-स्थानों में तो महा-भूतों का निर्बाध प्रवेश होता है ? वे खुली वायु में भरपूर सांस लेते हैं या नहीं ? स्वच्छन्द सूर्य-प्रकाश में नीले आकाश के नीचे स्वाभाविक जीवन का तो वे स्वागत करते हैं ? दभ्रता का संक्रमण तो उनके चित्त में नहीं होता ? हृदय की क्षुद्रता में अमृतत्व कहां रह सकता है ? कहीं संकीर्ण तमसावृत प्रदेश तो हृदय-गुहा में वे नहीं बना लेते ? प्रसन्नचित्तता से उदासीनता को तो वे परास्त करते हैं ? हृदय-गह्वरों के अन्धकार को हँसकर वे दूर कर सकते हैं या नहीं ? अन्तःशक्ति को प्रकट करने वाली प्रसन्नता उनके मुख

पर चमकती है या नहीं ? आपके आश्रम में अश्वत्थ और न्यग्रोधादि महावृक्ष सो विशाल स्कन्ध और शाखा-प्रशाखाओं के साथ फैलते हैं ? उनकी तिर्यक्-प्रसारिणी शाखाएं, निम्नावलम्बिनी जटाएं पृथिवी पर आकर फिर पादप-जैसी प्रतीत होती हैं या नही? उनके पुराण कोटरों में दिग्दिगन्त से आ-कर पक्षी सुख-पूर्वक निवास और कलरव करते हैं या नहीं ? छायादार वट-वृक्षों की छाया में सरस्वती के पुण्य-तीर पर ब्रह्मचारी अपने लिए तथा अभ्यागत मुनियों के लिए स्थण्डिल समेत पर्ण-कुटी की रचना में उत्साह प्रदर्शित करते हैं या नहीं ? अश्वत्थ और न्यग्रोधों को देखकर आपके ब्रह्म-चारियों को संसार-विटप का ध्यान आता है या नहीं ? जिस अनादि वृक्ष का अव्यय कालचक्र के साथ अपरिमित विस्तार होता है, जो अव्यक्त मूल वाला है, जिसमें अनेक पर्ण और बहुत से पुष्प हैं, जिसके स्वादु पिप्पली फल को चखने वाले मध्वद सुपर्णों का श्रुतियों में वर्णन है तथा भूत, भविष्य और वर्तमान जिसमें रस का सिंचन करके जिसे नित्य पल्लवित करते हैं, ऐसे संसार-विटप का ध्यान अश्वत्थ और न्यग्रोधों की उपमा से आपके ब्रह्म-चारियों के मन में आता है या नहीं ? इस प्रकार के संकेत जिनके मन में प्रवेश नहीं करते, मृत्यु के पाश वहां अपना घेरा डालने लगते हैं; इसलिए आपके यहां विराट् एवं अधिदैव अर्थों पर पर्याप्त ध्यान दिया जाता है या नहीं ? द्युलोक और पृथ्वी, सूर्य और चन्द्र, रात्रि और दिन, पर्वत और गिरि-निर्भर इनके दर्शन से आपके शिष्यों के चित्त प्रफुल्लित होते हैं या नहीं ?

आपके ब्रह्मचारी दर्भ और समिधाओं का संचय करने के लिए वन में दूर-दूर तक जाते हैं या नहीं ? दर्भपवित्रपाणि हो कर जलों के समीप वे नित्य प्रातः-सायं सन्ध्योपासन करते हैं या नहीं ? कुशाओं का प्राणों से जो सम्बन्ध है, उसका उन्हें ज्ञान सौपर्णाख्यान के सुनने से हुआ है या नहीं ? क्या आपके यहां प्राणापान के प्रतिनिधि-स्वरूप यज्ञ में दो पवित्रों का ग्रहण किया जाता है ? क्या प्राणमय कोष को उपलक्षित कर के बर्हिरास्तरण किया जाता है ? प्राणों की रक्षा के लिए ब्रह्मचारी दर्भमय आसन उपयोग में लाते हैं या नहीं ? श्रद्धा की पुत्री तप से उत्पन्न हुई ऋषियों की स्वसा के अर्थ को वे जानते हैं ? तप, मेधा, दीर्घायु और इन्द्रिय-बल जिन प्राणों के स्वास्थ्य

पर निर्भर है, उनकी निर्मलता का सम्पादन करने वाली मेखला को वे कटि-प्रदेश में धारण करते हैं या नहीं ? शीतोष्ण को सहने का उन्हें अभ्यास है या नहीं ? शीत ऋतु में जल-सेवन के द्वारा तप का संवर्धन करने की प्रथा आपके यहां है या नहीं ?

समय-समय पर आने वाले पूजार्ह अतिथियों की मधुपर्क के द्वारा आपके यहां पूजा होती है या नहीं ? ऋषियों ने कहा है कि दधि इस लोक का, घृत अन्तरिक्ष का और मधु द्युलोक का रूप है, इस अर्थ को जान कर आपके यहां मधुपर्क तैयार किया जाता है या नहीं ? आपके अन्तेवासी स्वायम्भ प्रजापति के साथ प्रारम्भ होने वाले वंश को **'अस्माभिरधीतम्'** की अवधि तक स्मरण रखते है या नहीं ? विद्या-सम्बन्ध से वितत होने वाले वंश-तन्तु को वे अपने द्वारा उच्छिन्न तो नहीं होने देते ? महर्षियों की परम्परा का सूत्र हमारी असावधानी से तो उत्पन्न नहीं हो जाता, इस प्रकार का पर्यवेक्षण वे करते हैं या नहीं ? ब्रह्मचारी की आयु के कौन से भाग को मृत्यु आक्रान्त कर लेती है, प्रजापति ने क्यों ब्रह्मचारी में मृत्यु को पहले भाग नहीं दिया, और फिर किस प्रमाद का निर्देश कर के मृत्यु को उसमें भी भागदेय दे दिया'— इसको क्या आपके अन्तेवासी भली प्रकार जानते हैं ? ऐसा तो नहीं कि वे प्रमाद के वशीभूत हो जाते हों, क्योंकि सनत्कुमारादि महर्षियों ने प्रमाद को ही मृत्यु का रूप माना है ? सनत्कुमारादि से क्षुण्ण पद्धति पर चलने के लिए आपके अन्तेवासी कृतोत्साह होते हैं या नहीं ? पुरा-काल में कितने सहस्र कुमार ब्रह्मचारी विप्र नैष्ठिक व्रत की दीक्षा लेकर द्युलोक से भी परे चले गये, इसको जानकर वे अनन्यभाव से स्वाध्याय में काल-यापन करते हैं या नहीं ? ऊर्ध्वरेता ऋषियों का मार्ग ही देवयान है, यही उत्तरायण-पथ है, ऐसा जानकर दो सृतियों में किस से सृत का अवलम्बन करने के लिए आपके ब्रह्मचारी उत्सुक रहते हैं ? आपके अन्तेवासियों के शरीरों में दक्षिण से उत्तर को बहनेवाला मातरिश्वा वायु पाया जाता है या नहीं ? क्योंकि शुद्ध मातरिश्वा प्राण के बिना कोई भी ऊर्ध्वरेता नहीं बन सकता ।

आपके शिष्यों के शरीर में जो शुक्र-रूप आप हैं, उनमें काम अथवा क्रोध के रूप में कभी उष्णता तो उत्पन्न नहीं होती ? ऋषियों ने कहा है कि गर्म जल को सदा यज्ञ से बहिर्गत रखना ही उचित है, इस प्रकार **'इदमहं**

तप्त वार्बहिर्द्धा यज्ञाग्निःसृजामि' के अर्थ को आपके शिष्य जानते हैं या नहीं ? आप भी सब प्रकार इस उष्णता से उनकी रक्षा करते हैं या नहीं, जिससे उनके आयुर्यज्ञ के प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन और सायं सवन में वसु-रुद्र-आदित्यों की प्रतिष्ठा अनुत्क्रान्त बनी रहे ? हे ऋषिप्रवर ! यह रहस्य अत्यन्त गूढ़ है, इस पुरुष-यज्ञ की रक्षा वसु-काल में महान् यत्न से करनी चाहिए। इस तत्त्व की मीमांसा बह्वृच लोग महदुक्थ के द्वारा और अध्वर्यु इष्टका-चयन से निष्पादित अग्नि को समिद्ध करते समय किया करते हैं, इसी ब्रह्मचर्य-तत्त्व पर छन्दोगशाखाध्यायी महाव्रत के समय सूक्ष्म मीमांसा करते हैं ? प्रत्नरेत की रक्षा के लिए ब्रह्मचारी दृढ़ संकल्पवान् मन का शरीरों में भरण करते हैं या नहीं ? इस रेत को ऋषियों ने ब्रह्मौदन कहा है, क्या आपके ब्रह्मचारी इस ओदन को पकाते हैं ? क्या वे जानते हैं कि इस ओदन को तप के द्वारा प्रजापति ने सिद्ध किया था ? क्या वे इस मंत्र के अर्थों पर ध्यानपूर्वक विचार करते हैं—

यस्मात् पक्वादमृतं सम्बभूव
यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव ।
यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपा-
स्तेनौदनेनातितराणि मृत्युम् ।।

क्या वे जानते हैं कि अमृत का उपभोग करने के लिए सब प्रकार के दुरितों से बचना अत्यावश्यक है ? दुर्वाच, दुष्टुति, दुर्हार्द, दुर्भग, दुश्चित्त, दुश्चरित आदि अनेक दुरित हैं, पर इन सबमें दुःशंस और द्वौःस्वप्नय अत्यधिक भयंकर हैं, इनसे बचने के लिए आपके ब्रह्मचारी शिवसंकल्पों के द्वारा सुशंस सौ स्वपन्य का आश्रय लेते हैं ? क्या वे **'पुनर्मामैत्विन्द्रियम्'** का पाठ करते हैं ? ऋक्-यजुः-साम का अधिष्ठान मन है, मन ही अमृत है, मन से सी सप्तहोता यज्ञ का विधान होता है, ऐसे मन पर अधिकार पाने के लिए शिव-संकल्प की अपार महिमा को क्या आपके अन्तेवासी जानते हैं ? स्वाशिस, स्विष्ट, सूक्ति, सुकृति, सुकेतु, सुक्रतु, सुगोपा, सुचक्षस्, सुचेतस्, सुज्योति, सुतप, सुदक्ष, सुदेवता, सुदृशीकता, सुद्रविणता, सुनीति, सुपथ, सुपूर्त, सुप्रतीक, सुप्रवाचन, सुप्रीति, सुभद्रता, सौमनस, सुमित्र, सुयज्ञ,

सुरेत, सुवर्चस्, सुवाक्, सुविज्ञान, सुवीर्य, सुव्रत, सुशर्म, सुशिष्ट, सुशुम्ण, सुहव, सुष्टुति और सौश्रवस आदि अनेक कल्याण के रूप हैं—इन सबकी प्राप्ति शिव-संकल्पों की सहायता से आश्रम में होती है या नहीं ? देव-लोक में जो मन-रूपी कल्पवृक्ष है, उसकी दिव्य शक्तियों को पहचानना ही शिव-संकल्पों की विजय है; क्या इस प्रकार की विजय में आपके ब्रह्मचारियों की अचल श्रद्धा है ? स्वयं अन्तःकरण की प्रेरणा से तथा श्रद्धायुक्त मन से तप में प्रवृत्त होना सब विधानों का एकमात्र सार है, इसी को श्रुतियों ने संज्ञान कहा है। इस प्रकार के संज्ञान का आपके ब्रह्मचारियों के मानस-रूपी सरोवर में नित्य स्फुरण होता है या नहीं ? वाक्-रूपी धेनु के अमृत-क्षीर का पान करने के लिए मन ही परम वत्स कहा गया है, उस मन का सम्मिलन सात्त्विकी श्रद्धा से आपके यहां होता है या नहीं ?

हे ऋषिवर, श्रद्धा जिसका मूल है, तप जिसका स्कन्ध है, स्वाध्याय, दीक्षा, शम, दम, आदि कर्म जिसके अनेक पर्ण हैं, और अमृतत्व जिसका मधुर फल है—ऐसा यह आश्रम-रूपी महावृक्ष आप जैसे अध्यक्ष को पाकर नित्य नये प्रकार से संवर्धनशील तो है ? श्रुतियां जिसकी मूल हैं, आचार्य जिसका स्कन्ध है, अन्तेवासी-ब्रह्मचारी जिसकी शाखा-प्रशाखाएं हैं, आचार जिसके बहुपर्ण हैं तथा अभ्युदय और निःश्रेयम् जिसके अनर्घ्य सुन्दर फल हैं—ऐसा यह आश्रम-रूपी विपुल अश्वत्थ सर्वदा स्वस्ति का भाजन होता रहता है या नहीं ?"

अंगिरा ऋषि के उक्त प्रकार के कल्याणकारी प्रश्नों को सुनकर सब ऋषि-समाज को अतिशय आनन्द हुआ और अन्तेवासियों के साथ अपने आपको परम धन्य मानते हुए भृगु ऋषि ने अति नम्रभाव से कहा—"हे सकल श्रुतियों में पारंगत महर्षे ! आपकी अमृत-वर्षिणी वाक् कल्याण चाहने वाले मनुष्यों के लिए साक्षात् कामधेनु के समान है। यद्यपि आप जैसे महामुनियों का पुण्य-दर्शन ही सब प्रकार की कुशल का विधान करने वाला है, तथापि आपने अत्यन्त कृपा करके ज्ञान-विज्ञान-संयुत अनेक प्रश्नों के द्वारा जिन दुर्लभ अर्थों का प्रकाश किया है, उनके अनुसार ही भविष्य में हम श्रुति-महती सरस्वती के तीर पर अपने योग-क्षेम का संवर्द्धन करते रहेंगे।" इस प्रकार संमनस्कता के साथ वह ऋषि-संसद् सुखपूर्वक विसर्जित हुई।

: २० :

अध्यात्म-नमोवाक्

देव के लिए प्रणामांजलि अध्यात्म का सर्वोत्तम लक्षण है। सृष्टिकर्ता के अगम्य रहस्य के प्रति कृतज्ञता से भरा हुआ मन सर्वतोभाव से उसी को अपनी नमोवाक् समर्पित करना चाहता है। अध्यात्म-अनुभव की ऊंची भूमिका में पहुंचने पर जिस नमोवाक् के लिए मन खुलता है वह इस मंत्र में प्रकट हुई है—

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च
नमः शंकराय च मयस्कराय च
नमः शिवाय च शिवतराय च

इसमें छः नमस्कृति हैं। उनमें तीन युग्म हैं। इनमें क्या हेतु है, अर्थ की गति किस ओर है, इसपर विचार करने से ऐसा ज्ञात होता है। शम्भ-वाय-शंकराय-शिवाय, ये नमोवाक् बाह्य जगत् के लिए हैं। अधिभूत और अधिदैव बाहरी जगत् हैं। बाह्य सृष्टि में सब प्रकार का कल्याण, कुशल, 'शम्' निवास करे, यह पहला इष्ट है। मयोभवाय-मयस्कराय-शिवतराय, ये दूसरे तीन नमोवाक् अध्यात्म के लिए हैं, अर्थात् हमारे अपने शरीर में सर्वदा शम्भव हो, यह उच्चतर भावना दूसरी नमस्कृति में है।

शम्भवाय और मयोभवाय, शंकराय और मयस्कराय, शिवाय और शिवतराय इनके जो तीन जोड़े हैं उनका भी विशेष लक्ष्य है। वाक्-प्राण-मन इस त्रिक् से हमारा आत्मस्वरूप सम्पन्न हुआ है। वाक् से तात्पर्य स्थूल पंचभूतात्मा शरीर का है।

वाक् या शब्द आकाश का गुण है। आकाश पंचभूतों में सबसे अन्तिम और सूक्ष्म है। उसी आकाश के गुण से और सबका ग्रहण समझा जाता है। यही वैदिक परिभाषा है। वाक् अर्थात् स्थूल पंचभूतात्मक जगत् और शरीर का कल्याण शम्भवाय और मयोभवाय की नमोवाक् से इष्ट है। यह 'भव' अर्थात् जन्मसिद्ध स्थिति पर निर्भर है।

शरीर के भीतर प्राणमय कोष है। यह क्रियाशक्ति का अधिष्ठान है। उसे शम्भव से युक्त बनाने के लिए प्रयत्न होता है। 'शंकराय' में बाहरी सामाजिक कर्मों के कल्याण की प्रार्थना है। मयस्कराय में शरीर-सम्बन्धी प्राण के कुशल भाव की प्रार्थना है। यही मयस् या अध्यात्म आनन्द का स्रोत है।

शिवाय व शिवतराय का सम्बन्ध मन से है। बाहरी विश्व का मन विश्वात्मक होना चाहिए। उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण हमारा निजी मानस आनन्द या शिवात्मक भाव है। विराट् जगत् में फैला हुआ जो शिवात्मक मन है उसे प्रणाम है। हमारे अभ्यन्तर का जो मनोदेवता है वह और भी ऊंचे कल्याणों से युक्त होना चाहिए। वह शिवतर स्वरूप में प्रणामांजलि के योग्य बनता है। मन का शिवतर स्वरूप उतना अधिक बनता है जितना अधिक वह स्थूल जड़ वस्तुओं में भोगात्मक देह और उसके सुखों में आनन्द या कल्याण न ढूंढ़कर शुद्ध चैतन्य में रस-प्राप्ति की अपनी क्षमता बढ़ाता है।

लेकर प्रदक्षिणा करने लगीं। इस बार वह जल्द-जल्द राजाओं को पार करने लगी, और उसी प्रकार द्वार के पास पहुँचकर फिर पृथ्वीराज के गले में माला डाल दी।

फिर हल्ला मचा। चन्द्र के साथ पृथ्वीराज के होने का सन्देह, जयचन्द को हो चुका था। पर ऐसे सेवक के रूप से चौहान न जायँगे यह निश्चय भी था। इसीलिये कोई छेड़ नहीं की। अब, पृथ्वीराज ने सोचा, यह मौका चूकना सदा के लिए चूकना होगा। इशारे के साथ वहाँ बैठे हुए समस्त सरदार चन्द के पीछे उठे। राजा भी तकरार की ताक में थे। भर्राकर बाहर निकले। पर पहले ही पृथ्वीराज ने प्रिया की बाँह पकड़ी। तत्काल उस खड़े हुए युवक ने एक तलवार और अपनी ढाल संयोगिता को दे दी और घूमकर पृथ्वी पर होता हुआ वार बचाया। अब तक हजारों की संख्या में शत्रु एकत्र हो गये थे, चौहान लड़ते हुए आगे को बढ़ रहे थे। पृथ्वी का घोड़ा अभी दूर था। पर वहाँ दूसरों के पास भी सवारी न थी। घमासान के साथ ेते हुए चौहान घोड़े के पास आये। पृथ्वी और संयोगिता घोड़े पर सवार हो गये। देखते-देखते छिपी चौहान-सेना भी आ गई। कान्यकुब्ज की सेना लड़ती हुई उसका पीछा करने लगी। तब तक हजारों जवान कट गये।

देव बराबर युवक को देख रहे थे। जब उसने संयोगिता को ढाल और तलवार दी थी तब उनका संशय और बढ़ा था। खड़े रह गये थे। कान्यकुब्ज के सरदार चौहानों के पीछे थे। वे उसी युवक को देखते रहे। बढ़ते चौहान के साथ संयोगिता का दाहना पार्श्व बचाकर लड़ता बढ़ता हुआ युवक सभा-स्थल पार कर गया और बाहर पृथ्वी और संयोगिता के घोड़ों पर चढ़ने तक लड़ता दिखाई दिया। फिर चारों ओर से उमड़ी आती हुई सेना की आड़ में कुछ देख न पड़ा। कुमारदेव धीरे-धीरे बढ़े। कुछ कदम बढ़ने के बाद द्वार के बाहर लाशें

ही लाशें दिखीं। पृथ्वीराज के घोड़े पर चढ़ने के कुछ आगे चलकर देखा, प्रभा मूर्च्छित पड़ी हुई है; उसकी पगड़ी, जिससे वह युवक बनी हुई थी, गिर गई है; बाल खुल गये हैं! कुमार के हृदय में वज्र-सा टूटा; धड़कन बढ़ गई। जल्द बढ़कर देखा, वहीं एक ओर बलवन्त पड़ा हुआ है—सदा की नींद सोता हुआ; प्रभावती सख्त घायल, मूर्च्छित; साँस देखी, बहुत क्षीण!

'प्रभा!'

प्रभा ने भूमि पर हाथ हिलाने की चेष्टा की; कुमार नहीं समझे—वह पैरों की धूल चाहती है। फिर बहुत ही क्षीण स्वर से बोली—'रतन'।